भाग

प्रथम एवं द्वितीय

चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'शास्त्री'

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

सभी रोगों की एकमात्र अचूक दवा

स्वमूत्र-चिकित्सा

[प्रथम एवं द्वितीय भाग]

•

चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'शास्त्री'

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

समर्पण

भूतभावन के चरण-कमलों में
सादर समर्पित
जिन्होंने असंख्य प्राणियों के
रोग-मुक्ति हेतु
शिवाम्बु-कल्प स्वमूत्र-चिकित्सा
का
सृजन किया।

प्रकाशकीय

'स्वमूत्र-चिकित्सा' नामक पुस्तक का यह प्रथम और द्वितीय भाग कृपालु पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए महान् हर्ष होता है।

यह पुष्प कैसा है, इसकी गंध कहाँ तक पाठकों को पसन्द आयेगी, यह तो वे ही समझ सकेंगे, किन्तु इतना निवेदन करना चाहता हूं कि इसे अत्यधिक उपयोगी, लोकोपयोगी एवं आकर्षक बनाने में उनका सहयोग अपेक्षित है।

सामान्य पठित समुदाय तो इस पुस्तक से लाभान्वित होगा ही, किन्तु चिकित्सक-समुदाय का भी पावन कर्तव्य है कि वे जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर इस प्रयोग को असाध्य, हठी और संक्रामक रोगों पर आजमाकर रोगी को लाभ पहुँचायें तथा इस चिकित्सा की खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में सहयोग प्रदान करें।

प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा होती है कि वह नीरोग रहकर स्वस्थ जीवन व्यतीत करे। इसके लिए निश्चय ही प्राकृतिक एवं नियम-बद्ध रहन-सहन, खान-पान का अवलम्बन लेना होता है। जहाँ मनुष्य ने प्रकृति के नियमों की अवहेलना की वहीं वह दण्डस्वरूप उसे रोगी बना देती है। इस पुस्तक के अध्ययन से प्राकृतिक जीवन का रहस्य ज्ञात होगा और रोगी होने पर रोग दूर करने के सरल एवं निःशुल्क उपाय भी ज्ञात होंगे।

पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित आज का नवीन सभ्य समाज प्राकृतिक जीवन से दिन-प्रतिदिन दूर होता जा रहा है। खान-पान, रहन-सहन, ठाट-बाट, बोल-चाल, पहनावा सभी कुछ विकृत हैं। चाय, बिस्कुट, कॉफी, कोको कोला, सफेद चीनी, सेक्रीन, बीड़ी, सिगरेट, मांस, मछली, अंडा, शराब तथा अन्यान्य नशीली वस्तुओं आदि की भरमार तथा उनके निरन्तर प्रयोग से आज का तथाकथित सभ्य समाज मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों का अड्डा बना हुआ है। उससे मुक्ति पाने के लिए हजारों-हजार की भीड़ राजकीय चिकित्सालयों के अतिरिक्त नीम-हकीम

चिकित्सकों, तांत्रिकों, ज्योतिषियों तथा ओझाओं के यहाँ भी लगी हुई है। इसके बावजूद भी मानव-देह वंश-परम्परा के अनुसार व्याधि का अड्डा बनता जा रहा है, क्योंकि जल, हवा, ध्वनि, दवाएँ सभी विषाक्त प्रदूषण से युक्त हैं। वैज्ञानिकों के पास उससे मुक्ति के लिए अभी तक कोई कारगर उपाय नहीं है। आयुर्वेदिक चिकित्सा भी एलोपैथी चिकित्सा की साठ-गाँठ से पंगु होती चली जा रही है। ऐसी स्थिति में इस महत्त्वपूर्ण चिकित्सकीय समस्या के हल के लिए यदि कोई जनोपयोगी उपाय हो तो उसका निःसंकोच उपयोग करना चाहिए।

मेरी दृष्टि में 'स्वमूत्र-चिकित्सा' ही प्रदूषण-रहित ऐसी पद्धति है, जो मानवमात्र की समस्त व्याधि को मिटाने में स्वतः सक्षम है, बशर्ते मनसा, वाचा, कर्मणा श्रद्धा और निष्ठा के साथ उसका उपयोग किया जाय। स्वमूत्र मात्र चिकित्सा नहीं है, अपितु मानवमात्र के आरोग्य का साधन सिद्ध हो चुका है। प्रश्न उठता है कि घृणा के दलदल में फँसी स्वमूत्र-चिकित्सा को लोकप्रिय चिकित्सा कैसे बनायी जाय? इसका उत्तर स्पष्ट है—स्वमूत्र-विषयक ज्ञान की वृद्धि से, प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत संस्कृत वाक्यों की सरल मातृभाषा में व्याख्या से, सरल और सस्ते साहित्य के प्रकाशन से, बच्चों की पाठ्य-पुस्तकों में समावेश कर मानवमात्र में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का नियमित पालन करने से तथा स्वमूत्र-चिकित्सा के स्वानुभव के व्यावहारिक ज्ञान से जनमानस में ओतप्रोत करने से। उक्त प्रकार के बने वातावरण से मनुष्यमात्र में बाल्यकाल से ही स्वस्थ रहने, दीर्घजीवी बनने, जीवन-शक्ति संचित करने, धन और समय के अपव्यय से बचने की एक स्वस्थ परिपाटी और परम्परा बन सकती है। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर जन-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दीर्घकाल से उपेक्षित इस साहित्य को सरल भाषा में प्रकाशित किया जा रहा है। इसे अत्यधिक जनोपयोगी बनाना पाठकों का पावन कर्तव्य है। पाठकों द्वारा यदि रोगाकुलों का भी उचित मार्गदर्शन किया गया तो वे भी इससे लाभान्वित होंगे, ऐसा विश्वास है।

शास्त्र-सम्मति

शिवाम्बु चामृतं दिव्यं जरारोगविनाशनम् ।
तदादाय महायोगी कुर्याद्वै निजसाधनम् ।।[1]

शिवाम्बु दिव्य अमृत है, बुढ़ापे एवं रोग का नाशक है। महायोगी उसका पान करके अपनी साधना करे।

द्वादशाब्दप्रयोगेण जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
बाध्यते नैव सर्पाद्यैर्विषाद्यैर्न विहिंस्यते ।।
न दह्यचेताऽग्निना क्वापि जलं तरति काष्ठवत् ।[2]

बारह वर्ष तक शिवाम्बु का सेवन करनेवाला चाँद-तारों की तरह दीर्घ अवधि तक जीता है। उसे सर्प आदि विषैले प्राणी पीड़ा नहीं पहुँचाते और न उस पर विष का असर होता है। वह आग से कभी नहीं जलता और पानी पर लकड़ी की तरह तैरने लगता है।

---

१. भगवान् शंकर के डामरतंत्रान्तर्गत शिवाम्बुकल्प की अमरौली मुद्रा का परिचायक श्लोक ९।

२. भगवान् शंकर के डामरतंत्रान्तर्गत शिवाम्बुकल्प की अमरौली मुद्रा का परिचायक श्लोक २१।

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतमाऽन्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरौली ।।[1]

शिवाम्बु की पहली धारा में पित्त अधिक होता है और पिछली धारा निःसार होती है, अतः इन दोनों धाराओं को छोड़कर शीतल मध्य धारा का पान किया जाय । यह योग-क्रिया खण्ड कापालिक मत में अमरौली नाम की मुद्रा कहलाती है ।

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद् रसायनम् ।
रक्तपामाहरं तीक्ष्णं सक्षारलवणं स्मृतम् ।।[2]

मनुष्य का मूत्र क्षारयुक्त, खारा और तीक्ष्ण है । वह जहर को मारता है, लाल खुजली को मिटाता है । उसका सेवन किया जाय तो रसायन का काम करता है ।

मूत्रं सूत्रं परित्यज्य जीवनस्य नरः सदा ।
गदहानां समूहे च धनं प्राणान् ददाति च ।।[3]

जीवन के सूत्ररूप में स्थित मूत्र को छोड़कर मनुष्य चिकित्सकों के समुदाय में सतत धन तथा प्राणों को गँवा रहा है ।

●

---

१. हठयोगप्रदीपिका, श्लोक ९६ ।
२. भावप्रकाश ।
३. आचार्य सन्त ।

स्वमूत्र-चिकित्सा

प्रथम भाग

अनुक्रम

प्रथम भाग

अपनी बात १

भूमिका ५

१. मानव-मूत्र-चिकित्सा का इतिहास ९

२. मूत्र-चिकित्सा ही क्यों? १६

३. स्वमूत्र के सम्बन्ध में परम्परागत प्रमाण २१

४. मूत्रोपचार-विधि २६

५. शिवाम्बुकल्प से स्वाम्बुकल्प ३९

द्वितीय भाग

१. मानव-मूत्र जीवन-विज्ञान है ४७

२. मूत्र का यौगिक संगठन ६१

३. इस प्रदूषण-युक्त जगत् में मानव-मूत्र ही प्रदूषण-मुक्त है ६७

४. मूत्र की विषघ्न शक्ति ७४

५. शरीर की रचना ७४

६. शास्त्र-वचन ८३

७. स्वमूत्र अस्पृश्य क्यों? ११४

८. स्वमूत्र-चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ ११५

९. मूत्र द्वारा साध्य-असाध्य रोगों की पहचान ११७

१०. स्वमूत्र बाल-रोग की अचूक दवा ११८

११. स्वमूत्र स्त्री-रोग की अचूक दवा ११९

परिशिष्ट

आधार के लिए सहायक ग्रन्थ-सूची १२१

अपनी बात

स्वराज्य की लड़ाई के सिलसिले में जेल-यातनाओं के कारण मैं असाध्य रोगों का शिकार हो गया था। मैंने देश में प्रचलित चिकित्सा-पद्धति—आयुर्वेद, यूनानी, एलोपैथी, होमियोपैथी, नेचरोपैथी, हाइड्रोपैथी, वायोकेमिक, देहाती जड़ी-बूटियों—की शरण ली और ४० वर्षों तक निरन्तर अपार धनराशि व्यय की, पर कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। दवाओं से क्षणिक लाभ होता था, लेकिन उसकी भी कम कीमत नहीं चुकानी पड़ती थी। प्रतिदिन सूई लेना, कीमती दवा लेना, टॉनिक क प्रयोग करना तथा यात्रा में सभी दवाओं का साथ ले चलना अत्यावश्यक था। दवा लेने या परहेज करने में जरा भी असावधानी हुई कि चारों खाने चित्त पड़ जाना पड़ता था। इस विवशता के चलते राष्ट्रीय स्तर की राजनीतिक हलचलों में—मन में उत्साह और लगन रहने के बावजूद—भाग लेना वंद हो गया और मुझे क्षेत्रीय स्तर तक ही अपने-आपको सीमित कर लेना पड़ा, फिर भी समाधान नहीं हुआ। रोग बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की। इसी अवसर पर :

स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति से असाध्य रोग दूर हो जाते हैं—मानस-पटल पर अंकित यह भाव प्रकट हुआ और उसका सफल परिणाम आया। मुझे देखकर आसपास के साध्य एवं असाध्य रोगियों में भी इस चिकित्सा-

पद्धति के प्रति उत्कंठा जागृत होने लगी। जिन्होंने इसे श्रद्धा के साथ स्वीकार किया, वे रोग-मुक्त हुए और इससे वातावरण में स्वतः प्रेरणा जग गयी। जहाँ स्वमूत्र-चिकित्सा का नाम लेते ही लोग मुँह बिचकाते, मखौल उड़ाते, निन्दा करते तथा दूषित वातावरण पैदा करने पर उतारू हो जाते थे, वहाँ अनेक लोगों ने इस विषय में दिलचस्पी लेना ही नहीं, बल्कि इस पद्धति से अपनी चिकित्सा करना भी शुरू कर दिया। रोग-मुक्त लोग अपने-अपने क्षेत्रों में स्वयं उदाहरण और प्रेरणा बन गये हैं।

स्वामी विश्वानन्दजी ने इस चिकित्सा-विधि के प्रति आकृष्ट करने के लिए डब्ल्यू० जे० आर्मस्ट्रांग की कृति—'दी वाटर ऑफ लाइफ' दी। वह आज तक जीर्ण-शीर्णावस्था में मेरे पास सुरक्षित है। उससे मेरी निष्ठा को बल मिला है। इस विषय की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए मुझे विज्ञान, आयुर्वेद, तन्त्र, पुराण आदि अध्ययन करना पड़ा और जानकारों के भी दरवाजे खटखटाने पड़े। अतीत के संस्मरण, मनीषियों के मिलन एवं उनके विचार, शास्त्रीय प्रमाण, लौकिक प्रयोग, व्याख्यान, लेख-संग्रह, स्वानुभूति, आधुनिक विज्ञान में प्रचलित तत्त्वों के आधार पर कार्य का विश्लेषण, प्रयोग-विधि, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक, कल्याणार्थ उपवासादि नियम, ग्राह्य वस्तुएँ एवं उपचार-विधि, त्याज्य वस्तुएँ एवं आचार-सतर्कता आदि विविध भूमिकाओं के सन्दर्भ में भलीभाँति सोचने-समझने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि स्वमूत्र-चिकित्सा-प्रणाली को प्रचारित-प्रसारित करने से सहस्रों रोगियों को लाभान्वित किया जा सकता है।

मानव-मूत्र-प्राशन से जनसाधारण का ध्यान मोड़ने के लिए आयुर्वेद तथा यूनानी ग्रन्थकारों ने जानवरों के मूत्र को रोग-निवारणार्थ उपयोगी बताया, उनमें (१) बकरी, (२) गाय, (३) भेड़, (४) भैंस (स्त्री-वर्ग), (५) घोड़ा, (६) गदहा, (७) ऊँट और (८) हाथी की गणना होती है। किसी-किसीने मृगी के मूत्रप्राशन को भी मान्यता प्रदान की है।

यह कैसी विडम्बना है कि मानव-रोग-निवारणार्थ पशुओं के मूत्रपान तथा प्रयोग की छूट दी गयी, जो निश्चय ही मानव-मूत्र से निकृष्ट कोटि का है। शास्त्रज्ञों की इस विधि से (चाहे जिस किसी परिस्थिति में उसे मान्यता दी हो) मानव-समाज का वहुत वड़ा अहित हुआ है और हो रहा है। फिर भी आज विश्व के सभी अंचलों में—विशेषकर भारत के सुदूर गाँवों में—स्वमूत्र-चिकित्सा का जहाँ कहीं अशास्त्रीय ढ़ंग से भी प्रयोग किया गया या किया जा रहा है, वह पूर्णतः सफल है और इसी सफलता में इस विधि की सार्थकता है।

वरसों से मेरा ऐसा विचार था कि चिकित्सा ऐसी होनी चाहिए, जिससे रोगी घर पर, रास्तों में, वाहनों में, पहाड़ों पर, काल कोठरियों में, निर्जन और दुर्गम स्थानों पर, बिना एक पैसा खर्च किये और दवाओं का बोझ ढोये अपनी चिकित्सा कर सके, असाध्य रोगों को मिटा सके और पूर्ण नीरोग बन सके। यह गुण केवल 'स्वमूत्र-चिकित्सा' में विद्यमान है। अन्य किसी भी पद्धति में अभी तक वह नहीं दीख पड़ा।

प्रस्तुत पुस्तक में मानव-मूत्र-चिकित्सकों, प्रशंसकों तथा साधकों के अब तक के उपलब्ध अनुभवों तथा प्रयोगों को प्रयोक्ता की ही भाषा में लिख दिया गया है, ताकि इसका एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप बन सके।

पुस्तक इतनी सरल है कि मेरा विश्वास है कि जो इस पुस्तक को पढ़ सकता है वह इस पुस्तक के आधार पर अपनी, अपने परिवार की, अपने पड़ोसियों तथा जनसाधारण की भी चिकित्सा अवश्य कर सकता है।

पाठकों से मेरा निवेदन है कि चिकित्सा प्रारम्भ करने के पहले इस पुस्तक को तीन-चार बार पढ़कर स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति खूब समझ लेने के पश्चात् ही पूर्ण आस्था के साथ चिकित्सा प्रारम्भ करें, तभी उन्हें कल्याणकारी फल प्राप्त हो सकेगा और वे सच्चे माने में समाज-सेवा के प्रकाश-स्तम्भ बन सकेंगे।

साथ ही यह भी निवेदन है कि यदि प्रयोग में किसी प्रकार की विशेष तथा भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हो तो फौरन मुझे सूचित करें, ताकि उचित परामर्श द्वारा भ्रम-निवारण किया जा सके और चिकित्सा उपयुक्त ढंग से हो सके।

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन का ध्यान इस ओर गया, यह परम प्रसन्नता की बात है। मैं प्रकाशक का आभारी हूँ, जो यह कृति आपके हाथों में इस अभिनव रूप में दे पा रहा हूँ। मैं अपने उन सभी मित्रों का, सहयोगियों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने 'स्वमूत्र-चिकित्सा' लिखने के लिए प्रेरित किया।

ग्राम : अदनपुर (तिउरी)
पत्रालय : महराजगंज
वाराणसी

—चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'शास्त्री'

भूमिका

पुस्तक आपके हाथ में है। इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं पढ़ें और अपनी राय कायम करें। फिर भी पुस्तक का लेखक होने के नाते आपसे अवश्य कहना चाहूँगा कि 'स्वमूत्र-चिकित्सा-विज्ञान' या 'शिवाम्बु-चिकित्सा-विज्ञान' का विषय एक अगम और अगाध विषय है। उस महासागर को प्रस्तुत पुस्तकरूपी कुल्हड़ में पूरा का पूरा भरा जाना असम्भव है। अतः इसके सीमित पृष्ठों में 'स्वमूत्र चिकित्सा-विज्ञान' सम्बन्धी किसी विषय विशेष की पूर्णता ढूँढ़नेवाले पाठकों को निराशा ही हाथ लगेगी। इस बात को मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ, क्योंकि स्वमूत्र-चिकित्सा-विज्ञान सदियों से विश्व-चिकित्सा क्षितिज से एक प्रकार से ओझल-सा रहा है। इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की घृणित धार्मिक किम्वदन्तियाँ जोड़ दी गयी हैं, ताकि आरोग्य के साधन के रूप में इसका प्रयोग कदापि न हो सके। किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों तथा निरन्तर सार्वजनीन प्रयोगों के अनुभवों की कसौटी पर खरा उतरने के कारण किसी न किसी रूप में इसकी विद्यमानता बनी रही। आधुनिक वर्तमान काल में वैज्ञानिक अन्वेषणों ने इसके अमृतवत् चमत्कारी गुणों को स्वीकारकर चिकित्सा-जगत् में पुनः जिज्ञासा तथा कौतूहल की लहर पैदा कर दी है। फलस्वरूप दकियानूसी विचारों में भी खलबली मच गयी है। पर्यावरण से घिरे आज के इस रोगग्रस्त जगत् में 'स्वमूत्र-चिकित्सा' बरबस ही जनप्रिय चिकित्सा के रूप में मान्यता प्राप्त करती जा रही है।

स्वमूत्र-चिकित्सा का दो सूत्रों से तर्कविहीन तथा तथ्यविहीन विरोध होता है: (१) धार्मिक विचारों के वे लोग, जिनके मानसपटल पर सदियों से यह भावना भर दी गयी है कि मूत्र अपवित्र वस्तु है, उसको

छूकर पवित्र न होने पर (स्नान न करने पर) नरक होता है और इसके सेवन से तो रौरव-नरक में जाना पड़ेगा, अतः मर जाना स्वीकार है, किन्तु इसका सेवन करना स्वीकार नहीं। इन भाइयों से मैं पूछना चाहता हूँ कि वे लोग एलोपैथी दवाओं का सेवन तो करते ही हैं। क्या उनमें से अधिकांश दवाओं का निर्माण महा अपावन वस्तुओं के योग से नहीं होता ? क्या अन्न, फल तथा सब्जी अपावन वस्तुओं की खाद से अच्छी उपज नहीं देती ? क्या अपावन वस्तुओं के विशेष प्रयोग से गन्ने की अच्छी खेती नहीं होती ? क्या यज्ञ के समय गाय (जो अपावन वस्तु खाती है) के मूत्र को पवित्र मानकर उसके पंचगव्य से देह पवित्र नहीं किया जाता ? क्या शास्त्रों ने गाय के मूत्र को सेवन करने का आदेश नहीं दिया है ? क्या मक्खियाँ महा अपावन वस्तुओं पर बैठकर पुनः हमारे खाद्य-पदार्थों पर नहीं बैठतीं ? क्या मक्खी बैठ जाने पर उस खाद्य पदार्थ का सेवन हम नहीं करते ? प्यारे भाइयो, मनुष्य तो शुद्ध और पवित्र जल पीता है, भोजन करता है। शुद्ध और पवित्र भोजन से मूत्र भी शुद्ध और पवित्र होता है, अतः उसके सेवन को वर्जित किया जाना उचित नहीं। शास्त्रों के अनुसार आदिकाल से आज तक स्वमूत्र-सेवन करने-वाले नीरोग होकर दीर्घायु को प्राप्त होते हैं (यह शास्त्रसंगत है)। प्रायः सभी धर्मशास्त्रों ने प्राण-रक्षा के लिए किसी भी वस्तु के प्रयोग को धर्मसंगत माना है।

(२) दूसरे प्रकार का विरोध आधुनिक चिकित्सकों (एलोपैथिकों) का है। उनके अनुसार मूत्र शरीर का कचरा है, दूषित पदार्थ है, विष है। इसके सेवन करने से मीठे जहर की भाँति मानव-देह पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसके सेवन से रोगी रोग-मुक्त नहीं हो सकता, इसमें रोग-निवारक कोई गुण है ही नहीं, इत्यादि। इनकी बचकानी बातों पर हँसी आती है, ये लकीर के फकीर की तरह आज भी त्रिशंकु की भाँति अधर में लटके हुए हैं। अमेरिका तथा जापान आदि देशों में दूसरों के

मूत्र को संग्रह कर कीमती जीवनदायिनी दवाएँ तथा सूइयाँ तैयार की जा रही हैं, जिनका प्रयोग तो ये चिकित्सक करेंगे ही, किन्तु स्वमूत्र-पान, जो उसी रोगी के शरीर की वस्तु है, के निःशुल्क प्रयोग का विरोध करते हैं। इनका तर्क-कुतर्क सिद्ध हो रहा है। स्वमूत्र का हर मर्ज पर प्रयोग कर पूर्ण सफलता मिली है। प्रयोग करने के कारण न तो कोई रोगी मरा है, न उसके शरीर पर किसी प्रकार का विपरीत प्रभाव ही पड़ा है, बल्कि प्रयोग करने पर रोगी भला-चंगा होता गया है और नीरोगी, दीर्घायु को प्राप्त हुआ है।

एलोपैथी चिकित्सा के हिमायती देश भी एलोपैथी की चिकित्सा का मानव-देह पर उससे होनेवाली घातक प्रतिक्रियाओं से ऊब गये हैं। अब वे भी एक ऐसी चिकित्सा-पद्धति की शरण में जाना चाहते हैं, जो निर्दोष हो, सरल हो, सर्वत्र सुलभ हो और उसके प्रयोग से मानव-देह पर किसी प्रकार का दुष्प्रभाव न पड़ सके। उनके अनुसार पेट्रो केमिकल पर आधारित सिंथेटिक द्रव्यों से निर्मित दवाएँ मनुष्य की शरीर-रचना में प्रतिक्रिया उत्पन्न करके दूषण पैदा करती हैं, अन्य व्याधियाँ भी पैदा करती हैं, अतः विकसित राष्ट्र अब नेचुरल प्रोडक्ट की ओर झुकाव रखने लगे हैं। विश्व-स्वास्थ्य-संगठन के प्रधानमन्त्री श्री बैनर मैन के भी यही विचार हैं। अतः मेरा उनसे अनुरोध है कि यदि वे वास्तव में एलोपैथी के दुष्परिणाम से ऊब गये हैं तो मानव-जाति के कल्याणार्थ प्राकृतिक देन 'स्वमूत्र-चिकित्सा' की शरण में आयें और विश्व को भी लाने का प्रयास करें। क्योंकि मानव-मूत्र निःशुल्क है, चिकित्सा सरल है, निर्दोष है, सर्वगुण सम्पन्न है, रसायन है तथा सर्वत्र सुलभ है।

इस लघु पुस्तक में जो भी सामग्री दी गयी है वह सूत्ररूप में, संकेतमात्र है। इससे विशेष की आशा दुराशामात्र है। इसकी विशेष उपलब्धि तभी हासिल होगी, जब प्रयोगकर्ता अपने अनुभव तथा उनके क्षेत्र में प्रचलित स्वमूत्र-चिकित्सा-प्रणाली से हुए लाभ को लिपिबद्ध

करके भेजते जायँ, ताकि उसके संकलन से जन-जन का ज्ञान-भण्डार बढ़ाया जा सके और उनके मन में जमे भ्रम को भी हटाया जा सके। अन्य चिकित्सा की भाँति स्वमूत्र-चिकित्सा के प्रचार, प्रसार और विकास में भी समाचार-पत्रों, आकाशवाणी तथा राजकीय मान्यताओं का विशेष योग होता है। किन्तु इसके सम्बन्ध में राजकीय नीति अस्पष्ट होने के कारण वे इसके प्रचार में योग देने से कतराते हैं। पत्र-पत्रिकाओं तथा आकाशवाणी को स्वतन्त्र विचारक होना चाहिए, किसी विज्ञान को दबाना उचित नहीं। जनता-शासनकाल में भारतीय संसद् में तत्कालीन स्वास्थ्य-मंत्री श्री राजनारायण सिंह का भाषण तथा माननीय मुरारजी देसाई, भूतपूर्व प्रधानमंत्री के समर्थन से स्वमूत्र-चिकित्सा के प्रचार और प्रसार को काफी बल मिला है। तत्कालीन समाचार-पत्रों तथा आकाशवाणी के प्रसारणों में भी अंशमात्र स्थान प्राप्त होने से स्वमूत्र-चिकित्सा के प्रति जन-जन में कौतूहल, उत्सुकता तथा अभिरुचि पैदा हुई है।

इसमें उल्लिखित नियमों का पूर्णरूप से श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन करते हुए यदि किसी भी रोग को मिटाने के लिए चिकित्सा करेंगे तो वांछित सफलता अवश्य मिलेगी, बशर्ते मनसा, वाचा, कर्मणा, दिन-चर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या तथा उपयुक्त आहार-विहार का दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य रहकर पालन किया जायगा। साथ ही यह भी निवेदन है कि यदि चिकित्सा प्रारम्भ करने में कहीं कोई भ्रम पैदा हो जाय या कोई कठिनाई महसूस हो तो उसे फौरन लिखकर जवाबी लिफाफा भेजकर सलाह लेने में कोई संकोच न किया जाय।

—चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'शास्त्री'
स्वमूत्र-चिकित्सा आरोग्य सदन,
सलाह केन्द्र

ग्राम : अदनपुर (तिउरी)
पत्रालय : महराजगंज,
वाराणसी

मानव-मूत्र-चिकित्सा का इतिहास :१:

पंचभूतों का प्रतिष्ठापन

प्रकृति ने जितने जीवों की उत्पत्ति की है, वे सभी स्वाश्रयी हैं। उन्हें जितना परस्पर सहयोग चाहिए, वह परिवार, समाज आदि के जरिये मिल सकता है। शिशु पैदा होता है तो उसके पोषण के लिए उसकी माता के स्तन में दूध आ जाता है। यदि किन्हीं दोषों के कारण बच्चा अस्वस्थ हो जाता है तो उसे नीरोग करने के लिए उसके पास उसका मूत्र तैयार है, जिसका पान करने से वह तुरन्त ठीक हो सकता है। मूत्र में पाँच भूतों के दर्शन होते हैं।

मानव-मूत्र चिकित्सा के आचार्य

उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि आदिकालीन जम्बूदीप में मानव-मूत्र की चिकित्सा-पद्धति प्रचलित थी और इसके आचार्य भगवान् शंकर थे। साधारण आदमी न विष-पान कर सकता है और न साँप से अप्रभावित रह सकता है। लेकिन भगवान् शंकर द्वारा हलाहल पान करने पर भी उन पर कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ। विषधर फणीन्द्र तो उनका अलंकार बन गया। इतनी बड़ी सिद्धि शंकर को कैसे मिली ? यह भी शास्त्रसम्मत है कि उन्होंने अपने पुत्र गणेश की गर्दन काटकर पुनः जोड़ दी थी। भगवान् शंकर का परम शिष्य रावण प्रतिवर्ष अपनी गर्दन काटकर इष्ट को चढ़ा देता और जानवरों की गर्दन काटकर अपनी गर्दन में जोड़ लेता था। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं, जिन्हें मात्र किंवदन्तियाँ कहकर संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता और न वैज्ञानिक विचारक इतनी बड़ी घटनाओं को नजरअंदाज कर सकते हैं। भगवान् शंकर के जीवन-प्रसंग और उनके उपासकों की अखंड परंपरा का मूल खोजने पर स्वमूत्र-सेवन की प्रक्रिया ध्यान में आये बिना कैसे रह सकती है ?

चिकित्सा-प्रणालियों का आकर्षण

कालान्तर में अरण्यांचलों में रहने तथा अपने निरन्तर अन्वेषणों के कारण ऋषि-कुल मूत्र-चिकित्सा के बजाय प्राकृतिक चिकित्सा की ओर झुका। 'जल, अग्नि, आकाश, मिट्टी और हवा' के विभिन्न प्रयोग कर उसने रोग से मुक्त होने की नयी विधि बनायी। उसमें मूत्र-चिकित्सा जैसी चमत्कारिता, पवित्रता तथा उपादेयता का अभाव रहा, इसलिए प्रकृति-प्रदत्त जड़ी-बूटियों, खनिज पदार्थों आदि के गुणकारी तत्त्वों में पंचभूतों की खोज की गयी, जिससे 'भेषज-चिकित्सा' प्रणाली आविर्भूत हुई, जो आज आयुर्वेद नाम से जानी जाती है। आयुर्वेद को उपवेद का सम्मान प्राप्त है। यह विधि बहुत प्रसिद्ध हुई। इसके उत्कर्ष-काल में चिकित्सा के सभी अंगों का और विशेषकर 'शल्य-चिकित्सा' का विकास चरम सीमा तक पहुँचा। संसारभर के विद्यार्थी आर्यावर्त में आकर अन्य शास्त्रों के साथ आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करते और फिर अपने देश लौटकर उसका प्रचार-प्रसार करते थे। यह न भूलना चाहिए कि इस शिक्षण-काल में वे स्वमूत्र-चिकित्सा-विधि को भी विधिवत् जान लेते थे। तभी तो देश-विदेश के तत्कालीन समाज ने स्वमूत्र-चिकित्सा-विधि को हृदयंगम किया, जो आज तक उनके धर्मग्रन्थों में सूत्रवत् विद्यमान है। यही बात सिद्ध करती है कि 'स्वमूत्र-चिकित्सा' का आकर्षण प्रत्यक्ष या परोक्ष में ज्यों-का-त्यों बना रहा है।

मानव-मूत्र-चिकित्सा-साहित्य की क्षति

विदेशियों के लगातार आक्रमण, आपसी कलह तथा गृह-युद्धों के कारण जो राष्ट्रीय क्षति हुई, उसका असर चिकित्सा-जगत् पर भी पड़ा और उसके चलते आयुर्वेद-शल्य-चिकित्सा एवं स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति से सम्बद्ध विपुल साहित्य नष्ट हो गया। जलानेवालों को क्या मालूम कि उनसे मानवता का कितना बड़ा अहित हो गया। मेरा मानना है कि यही वह समय है, जब मानव-मूत्र-चिकित्सा-पद्धति की विकसित प्रणाली लुप्त हुई। उसके बाद अंग्रेजों के शासन-काल में इस

लगभग उपेक्षित ही रहना पड़ा, क्योंकि तब आयुर्वेद के सिंहासन पर 'एलोपैथी, जम गयी, जिसका प्रचार स्वयं सरकारी तन्त्र करता रहा।

चिकित्सकों की बाढ़

आजाद भारत में आत्मविश्वास को उभरने का मौका मिला भी तो अंग्रेजी के भक्तों ने उससे फायदा नहीं उठाने दिया। वे आयुर्वेद की पढ़ाई के स्थान पर मिश्रित चिकित्सा—आयुर्वेद-एलोपैथी—को प्रोत्साहन दे रहे हैं। इससे आयुर्वेद के प्रति जनता की आस्था घट जायगी और इस पद्धति का भारी अहित होगा। सामान्यतः रोगी डाक्टर के पास पहुँचता है तो वह यही सुनता, समझता और मान लेता है कि स्वस्थ होने के लिए उसे दवा चाहिए, सूई चाहिए। यह जानने का प्रयास ही नहीं किया जाता कि यह दवा और सूई क्या है, कौन-सी पद्धति की है, रोगी की प्रकृति के अनुकूल है या प्रतिकूल, चिकित्सक किस पद्धति का है, अनुभवी है या अनुभवशून्य, आदि। रोगी किसी-न-किसी चिकित्सक के पास पहुँच जाता है, सूई लगवाता है, दवा लेता है और उसकी फीस तथा मूल्य चुकाता है। इस समय दवाइयों का निर्माण तथा चिकित्सकों की बाढ़ रोग-मुक्ति के लिए न होकर दौलत की फसल काटने के लिए है। कौन नहीं जानता कि सस्ती-से-सस्ती दवाओं की कीमत रोगी से कितनी ज्यादा ली जाती है? डाक्टरों का मुख्य कार्य जन-कल्याण न होकर धन कमाना मात्र हो गया है। यह है एलोपैथी का करिश्मा! इसीलिए कहा जाता है :

मूत्रं सूत्रं परित्यज्य जीवनस्य नरः सदा।
गदहानां समूहे च धनं प्राणान् ददाति च॥

जीवन के सूत्ररूप में स्थित मूत्र को छोड़कर मनुष्य चिकित्सा-शास्त्रियों के चंगुल में फँसा धन और प्राण गँवा रहा है।

निर्बल का बल

आज भारतवर्ष की आबादी लगभग ६० करोड़ है, जिसमें २० करोड़ लोग गरीबी की लक्ष्मण-रेखा से बहुत नीचे स्तर पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। २५

करोड़ लोग लक्ष्मण-रेखा के नजदीक जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। जिन्हें एक शाम का भोजन नसीब नहीं होता, वे रोगी होने पर अपनी तथा अपने परिवारवालों की दवा कैसे कर सकते हैं ? राजकीय चिकित्सालयों में दवा और शय्या प्राप्त करने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं, वह भुक्तभोगी जानते हैं। सरकारी प्रचार-तन्त्र के प्रभाव के कारण गरीब-से-गरीब लोग अपना इलाज करने के लिए स्थानीय धूर्त चिकित्सकों या चमत्कार करनेवाले तंत्र-मंत्र-सिद्ध ओझाओं के चक्कर में पड़कर अपना सर्वस्व लुटा आते हैं। गरीबी और परम्परागत अंध-विश्वासों के नाम पर इस प्रकार हजारों लोग उजड़ते हैं, हजारों माताएँ जिगर के टुकड़े गँवाती हैं और हजारों परिवारों के दीपक बुझ जाते हैं। उन सबकी रक्षा कैसे की जाय ? दीन-हीन-दुखी जन अपनी या अपने परिवारवालों की चिकित्सा के लिए योग्य डॉक्टरों से दवा लेना भी चाहें तो डॉक्टरों की फीस या दवा के पैसे देना उनके वश की बात नहीं है। करोड़ों लोगों की आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय है कि उनके पास न खाने के लिए अन्न है, न पहनने के लिए वस्त्र, न खर्चने के लिए दाम है, न करने के लिए काम। रोग-मुक्त होने के लिए तब वे क्या करें।

'निर्बल के बल राम' कहने मात्र से आज के लोगों का समाधान नहीं हो सकता। उन्हें ऐसी चिकित्सा-पद्धति बतानी होगी, जिससे न तो पथ्य ढूंढ़ना पड़े, न पैसा जुटाना पड़े और न दर-दर भटकना पड़े। दवा भी शत-प्रतिशत प्रामाणिक और अचूक हो। क्या देश की प्रचलित शिक्षा-प्रणालियों में यह सब सम्भव है ? हरगिज नहीं। आदिकालीन स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति ही इन सब दृष्टियों से उपयुक्त मालूम होती है।

किसी भी चिकित्सा-पद्धति ने स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति का विरोध नहीं किया है और न इसे स्वास्थ्य के लिए अहितकर सिद्ध किया है, इसलिए हमारा यह पावन कर्तव्य है कि हम इस प्रणाली को लोक-चिकित्सा के रूप में प्रतिष्ठा दें।

शास्त्रीय एवं परम्परागत आधार

भावप्रकाश में स्वमूत्र की चर्चा करते हुए इसे रसायन, निर्दोष और विषघ्न

बताया गया है। डामर-तन्त्र में प्राप्त उद्धरणों के अनुसार भगवान् शंकर ने माता पार्वती को इसकी महिमा समझायी और कहा कि स्व-शरीर के लिए स्व-मूत्र अमृत है। इसके प्राशन से मनुष्य नीरोग, तेजस्वी, बलिष्ठ, कान्तिवान्, निरापद तथा दीर्घायु को प्राप्त होता है। अथर्ववेद, हठयोगप्रदीपिका, हारीत, वृद्धवाग्भट्ट, योगरत्नाकर, जैन, बौद्ध, ईसाई आदि धर्मों के अनेक ग्रन्थों में स्वमूत्र-चिकित्सा की चर्चा है। किंवदन्तियों और नानी की कहानियों में हम सुनते आ रहे हैं कि दुर्गम समुद्र-यात्राओं, रेगिस्तानी प्रदेशों, युद्धों, पहाड़ों की चढ़ाइयों में स्वमूत्र सेवन कर लोग अपनी दुर्गम मंजिल पार कर जाते हैं।

अघोरपंथी अवधूतों तथा तांत्रिकों की परम्परागत स्वमूत्र-प्राशन-विधि तथा स्वमूत्र-मालिश-क्रिया ने स्वमूत्र-चिकित्सा को आज तक जीवित रखकर न केवल मानव-जाति का उपकार किया है, वरन् चिन्तकों के समक्ष यह यक्ष-प्रश्न खड़ा कर दिया है कि वे इस चिकित्सा-प्रणाली को पुनः प्रतिष्ठित करने की अगुआई करें।

सोलहवीं शताब्दी के सूफी कवियों और एशिया तथा यूरोप के कुछ वैज्ञानिकों ने स्वमूत्र-चिकित्सा को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया, मगर उन्हें सफलता नहीं मिली। मगर इतना निर्विवाद है कि आज भी शीत प्रदेश तथा पीतप्रदेश में रहनेवाले लोग बड़ी संख्या में हैं, जो स्वमूत्र-प्राशन से अपने को नीरोग रखते हुए दीर्घ जीवन जीते हैं।

पुनरुद्धारक ग्रन्थ

स्वमूत्रचिकित्सा-पद्धति को पुनर्जीवित करने का सर्वाधिक श्रेय यदि किसी को है तो डब्ल्यू० जे० आर्मस्ट्रांग को। बीसवीं सदी के प्रारम्भ की बात है। इंग्लैण्ड का यह महापुरुष बीमार पड़ गया तो बड़े-से-बड़े डॉक्टरों ने इनकी चिकित्सा की, मगर जब कोई लाभ न हुआ तो उन्हें भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया। वे अस्पताल से घर लौट आये और अपनी शान्ति के लिए बाइबिल पढ़ने लगे। पढ़ते-पढ़ते एक सूत्र पर उनकी निगाह टिकी—'ड्रिन्क वाटर्स, आउट ऑफ दाइन ओन सिस्टर्न'—अपने निजी तालाब का पानी पी। उन्होंने उसी आधार पर

मूत्र-पान तथा मूत्र-मालिश करना शुरू किया, जिससे वे पूरी तरह रोग-मुक्त हो गये। उन्हें स्वस्थ-सबल देखकर उन सभी डॉक्टरों ने दाँतों तले अँगुली दबा ली, जो उन्हें महाकाल के गाल में जाने के लिए मुक्त कर चुके थे। आर्मस्ट्रांग ने अपने अनुभवों से अन्य रोगियों को भी कष्ट-मुक्त किया और इस तरह इस चिकित्सा-विधि को अर्वाचीन युग में लोकप्रियता प्रदान की। उनके प्रयत्न से सैकड़ों प्रकार के रोग कैसे ठीक हुए, इसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने जो 'दि वाटर ऑफ लाइफ' पुस्तक लिखी है, वह वास्तव में स्वमूत्र-चिकित्सा-विधि को पुनर्जीवन देनेवाला ग्रंथ है। विश्व की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है और अभी भी नयी-नयी भाषाओं में उसे अनूदित किया जा रहा है। उस पुस्तक ने चिकित्सा-जगत् में काफी तहलका मचा दिया है और वैज्ञानिकों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया है कि वे स्वमूत्र से होनेवाली चिकित्सा के परिणामों को अनदेखा न करें।

भारतीय योग

भारतवर्ष—जो स्वमूत्र-चिकित्सा-प्रणाली का जन्मदाता है और जहाँ वेद, शास्त्र, पुराणों से इसकी पुष्टि होती है—वहाँ के लोगों के हाथों में 'वाटर ऑफ लाइफ' पुस्तक आते ही नयी चेतना आ गयी। अनेक रोगी यह पुस्तक पढ़कर और उसकी विधि अपनाकर रोग-मुक्त होने लगे। किन्तु इस पद्धति का खुलकर समर्थन करने और सामाजिक प्रतिष्ठा देने की हिम्मत का अभाव बना रहा। असाध्य रोगों से पूर्ण नीरोग हुए व्यक्ति भी यह कहने का साहस न जुटा सके कि हम स्वमूत्र-प्रयोग से अच्छे हुए हैं, क्योंकि उन्हें यह भय लगता रहा कि ऐसा कहते ही लोग अपवित्र मान बैठेंगे, जाति से बहिष्कृत कर देंगे और निन्दा होगी। समय बीतता रहा, घटनाएँ घटती रहीं। इसी बीच गुजरात के स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी राजीवभाई मणिभाई पटेल बीमार पड़े। उनकी चिकित्सा 'दि वाटर ऑफ लाइफ' के अनुसार हुई। अतः ठीक होने पर उन्होंने हिम्मत के साथ इस चिकित्सा-पद्धति के प्रचार-प्रसार और पुनरुद्धार का बीड़ा उठा लिया।

स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में स्थापित

करने तथा भारतीय चिकित्सकों एवं आर्मस्ट्रांग के अनुभवों को सामने लाने के लिए पटेल ने 'शिवाम्बुकल्प' पुस्तक प्रस्तुत की, जो अनेक भारतीय भाषाओं में प्रकाशित है। उसे पढ़कर इस पद्धति के प्रति जनमानस में आकर्षण जगा और आस्था पैदा हुई है।

चिकित्सा-केन्द्रों की स्थापना

स्वमूत्र-चिकित्सा करने-कराने का विधिवत् कार्य 'आरोग्य निकेतन, अहमदाबाद' की स्थापना से शुरू हुआ, जहाँ सैकड़ों रोगी अपनी असाध्य बीमारियों से छुटकारा पाने में सफल रहे। इसके बाद बंबई, पूना, पंजाब, बिहार आदि क्षेत्रों में भी प्राकृतिक चिकित्सकों तथा योग्य चिकित्सकों की देखरेख में आरोग्य निकेतन संचालित होने लगे। इन केन्द्रों में स्वमूत्र-चिकित्सा को नये-नये आयाम देने का प्रयास हो रहा है।

बुनियादी प्रश्न

यह प्रसन्नता का विषय है कि विदेशों में इस पद्धति का गहन अध्ययन किया जा रहा है। यूरोप के औषधि-निर्माताओं ने असाध्य रोगों को दूर करने के लिए मानव-मूत्र द्वारा सूइयाँ, दवाएँ, पौष्टिक आहार, रसायन तथा क्रीम आदि तैयार कर चाँदी बनानी प्रारम्भ कर दी है। वे दवाएँ तथा सामग्रियाँ अपने देश में आ रही हैं और लोग उनका शौक से सेवन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारतीयों के समक्ष यह बुनियादी प्रश्न खड़ा है कि हम विदेशियों के आम मूत्र से निर्मित दवाएँ खरीदकर रोग-मुक्ति प्राप्त करें या अपने ही निःशुल्क पवित्र मूत्र-प्राशन तथा मालिश से नीरोग बनें ?

अपना मूत्र अपने लिए अमृत है, किन्तु दूसरों के लिए (आहार-विहार के अनुसार) दोषयुक्त हो सकता है। विशेष परिस्थिति में मांसाहारियों के लिए मांसाहारियों का और शाकाहारियों के लिए शाकाहारियों का ही मूत्र कुछ समय तक प्रयोग करने की छूट है—यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए। आयुर्वेद में शाकाहारी जानवरों के ही मूत्र-प्रयोग का विधान है, मांसाहारियों का नहीं।

आम जनता में अपने मूत्र के विषय में यह गलत धारणा बन गयी है कि वह घृणास्पद है, अपवित्र है, विष है। मूत्र-स्पर्शमात्र से ही जो अपना मुँह बिचकाता है, वह दूसरों के मूत्र से निर्मित औषधि आदि को चाव से लेता है। यह कितनी विचित्र बात है! इस तरह के भ्रमजाल से लोगों को निकालना है, तो जन-जन को यह समझाना चाहिए कि आपका अपना मूत्र आपके लिए अमृत है। यह अपने रोग को दूर करनेवाली रामबाण औषधि है। इससे असाध्य रोग मिटते हैं। यह मानव-शरीर के लिए कवच है। इसे ग्रहण करते रहने से किसी भी प्रकार का रोग निकट नहीं आता। ताजा मूत्र में अपरिमित गुण हैं।

स्वमूत्र की महिमा जाननेवाले यदि कभी किसी रोग से पीड़ित हों तो तत्काल उसका प्रयोग कर अपने को नीरोग, तेजस्वी, बलिष्ठ और दीर्घायु बनायें—इसमें किसी प्रकार का संकोच न करें—यही मेरी कामना है।

मूत्र-चिकित्सा ही क्यों? : २ :

पांच हजार दवाएँ

चिकित्सा-शास्त्र बहुत फैल गया है। विभिन्न प्रणालियों में जो शोध-सन्धान होता है, उससे दवाओं की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। सामान्यतः यह माना जाता है कि लगभग ५ हजार दवाएँ इस समय उपलब्ध हैं, जिनका चिकित्सक रोगियों के लिए उपयोग करते हैं।

इतनी दवाएँ हैं, लेकिन रोगी रोग-मुक्त नहीं हो रहे हैं। इतना ही नहीं, वरन् नये-से-नये रोग फैलते जा रहे हैं। कभी बच्चा बीमार है तो कभी बड़ा। कहीं स्त्री-बीमार है तो कहीं पुरुष। गरीब-अमीर—सभी अपनी शक्तिभर चिकित्सा पर खर्च करते हैं और चिकित्सकों के पास पहुँचते हैं। इस पर भी निश्चित नहीं कि वे रोग-मुक्त हो ही जायेंगे, क्योंकि एक ही रोग का निदान एक ही पद्धति के दो चिकित्सक अलग-अलग ढंग से करते हैं। उनकी दवाएँ भी

अलग-अलग तरह की होती हैं। एक चिकित्सक जिस दवा को एक रोग की रामबाण औषधि कहता है, दूसरा उसके विपरीत मत व्यक्त करता है। इस दुहरी प्रक्रिया से थककर ही शायद किसीने लिखा है :

वैद्यराज ! नमस्तुभ्यं यमराजसहोदर।
यमस्तु हरति प्राणान् वैद्यः प्राणान् धनानि च ।।

—चिकित्सक यमराज से भी भयंकर है। यम तो केवल प्राण लेता है, लेकिन चिकित्सक प्राण लेता है और धन भी ले लेता है।

लोग इसीलिए कहते हैं कि डॉक्टरों के दरवाजे मत जाओ। यदि एक बार चले गये तो जीते-जी उनके चक्रव्यूह से निकल पाना कठिन है। क्यों कठिन है ? इसके दो कारण हैं : एक तो अनुभवी डॉक्टरों की कमी और दूसरे शुद्ध दवाओं का अभाव। डॉक्टर मिल भी जायें तो क्या गारंटी है कि दवा भी मिल जायगी।

नकली दवा : नकली डॉक्टर

आज के युग में जिन आवश्यक गुणकारी वस्तुओं का उपयोग दवाओं के निर्माण में होता है, वे कहाँ मिलती हैं ? उनका पूर्णतः अभाव है। औषधि-निर्माताओं से यह बात छिपी नहीं है। वे 'तैलाभावे जलम्' का प्रयोग कर सस्ती दवाएं बनाते हैं और रोगियों से अत्यधिक मूल्य वसूलते हैं। नकली दवाओं के बड़े-बड़े कारखाने खुल गये हैं। जब कभी वे पकड़े जाते हैं तब भंडाफोड़ होता है। लेकिन पकड़े जाने से पूर्व वे कितनी जिन्दगियों के साथ खिलवाड़ कर चुके होते हैं, यह कौन बता सकता है ? साधारण जनता डॉक्टर का पुर्जा लेकर जाती है और दवा खरीद लाती है। उसे क्या पता कि अमुक दवा असली है या नकली। इन्जेक्शन नकली बन गये हैं और ग्लूकोज का पानी भी असली नहीं रहा। सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९७८-७९ में एक हजार करोड़ रुपये की स्वदेशी दवा तथा १८० करोड़ रुपये की दवाओं की सामग्री का उत्पादन हुआ। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि जो भारी परिमाण में नकली दवाएं बन रही हैं ,उसका मूल्य आम जनता को कितना अधिक चुकाना पड़ रहा है।

असली दवा के नाम पर नकली दवा देनेवाले जो चिकित्सक सूई लगाकर धन अर्जन करने की होड़ में लगे हैं, उनसे हजारों रोगियों के घर उजड़ रहे हैं। देश में अच्छे चिकित्सक भी हैं, किन्तु रोगी उन तक पहुँचने से पहले ही अपना सर्वस्व खो चुका होता है। ऐसी स्थिति में बीमार लोगों के सामने यह समस्या है कि वे क्या करें ? कहाँ जायें ? किस पद्धति को स्वीकार करें, जिससे उनके रोग का सहज निवारण हो। कहना न होगा कि यह स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति में हैं, जो उनकी सारी समस्याओं का समाधान देने में सक्षम है।

स्वमूत्र-चिकित्सा की विशेषता

स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति में न तो रोगी की नाड़ी देखने की आवश्यकता है, न फोटो लेने की। न थर्मामीटर लगाना है, न सूई की जरूरत। न दवा और पथ्य का सिर-दर्द है और न धन या समय खर्च करने की अनिवार्यता। इसमें स्वमूत्र ही निदानकर्ता, चिकित्सक एवं दवा है। रोगी स्वयं बिना खर्च और बिना किसी परिश्रम के स्वमूत्र प्राशन कर रोगमुक्त हो सकता है। यह केवल एक बार आजमाने की बात है। आजमाने के बाद रोगी को स्वतः इसके अलौकिक गुणों का ज्ञान हो जाता है।

स्व-मूत्र-प्राशन से निरंतर फायदा होता है। किसी प्रकार का नुकसान होता ही नहीं। यह चिकित्सा शरीर को एक सम्पूर्ण इकाई मानती है। आरोग्य और रोग दोनों का सम्बन्ध सारे शरीर से है, किसी एक अंग से नहीं। इसीलिए इसके सेवन से शरीर के मुख्य रोग के साथ-साथ अन्य विकार भी दूर हो जाते हैं। फिर इस पद्धति में रोग का कारण, रोग और रोग का उपचार भी एक है। यह कितनी महत्त्वपूर्ण बात है कि रोग का कारण रोग और रोग का उपचार तीनों शरीर में है। जब रोग का कारण एक, रोग एक, तब निदान किसका और क्यों किया जाय ? उपचार एक होने से चिकित्सकों की फौज की क्या आवश्यकता ? क्योंकि **रोगाभावे आरोग्यता अपि रोगनाशेप्यारोग्यता।**— रोग के अभाव में आरोग्यता तथा रोग के विनाश में भी आरोग्यता स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति की मान्यता है।

असली द्रव्यों का भण्डार

मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए जिन द्रव्यों की आवश्यकता है, वे उसके मूत्र में विद्यमान हैं।

डॉ० फरॅन की विश्वविख्यात पुस्तक 'जीव-रसायनशास्त्र का परिचय' के अनुसार १०० सी० सी० अर्थात् ४ औंस मूत्र में निम्नलिखित द्रव्य जिस परिमाण में पाये जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :

संख्या	द्रव्य	मिलीग्राम
१.	यूरिया एन० (नाइट्रोजन)	६८२
२.	यूरिया	१४५९
३.	क्रिएटीनीन एन०	३६
४.	क्रिएटीनीन	९७.२
५.	यूरिक एसिड एन०	१२.३
६.	यूरिक एसिड	३६.९
७.	एमिनो एन०	९.७
८.	एमोनिया एन०	५७
९.	सोडियम	२१२
१०.	पोटाशियम	१३७
११.	कैल्शियम	१९.५
१२.	मेग्नेशियम	११.३
१३.	क्लोराइड	३१४
१४.	टोटल सल्फेट	९१
१५.	इन ऑर्गेनिक सल्फेट	८३
१६.	इन आर्गेनिक फास्फेट	१२७
१७.	PH (पी० एच०)	६.४
१८.	टोटल एसिडिटी एज सी० सी०	—
१९.	एन/१० एसिड	२७.८

डॉ० जी० एस० काटन (टेम्पुल टेक्सास) के अनुसार मूत्र में 'एलोनटेन' (ALLONTAIN) (सी० ४ एच० ६.०३, एन. ४) भी पाया जाता है।

प्रो० जीन० रोस्टेन्ड के अनुसार उपयुक्त मात्रा में 'हारमोन्स' तो मिलता ही है।

उक्त द्रव्य मानव-शरीर से जिस अंश में मूत्र के द्वारा बाहर निकलते हैं, मूत्र-प्राशन से वे द्रव्य तत्काल रोगाकुल शरीर को मिल जाने से शरीर नीरोग हो जाता है। इस असली द्रव्य की पूर्ति क्या नकली और बनावटी द्रव्य से की जा सकती है ? कभी नहीं। शास्त्रों ने उक्त प्रकार की दवाओं को विजातीय द्रव्य घोषित किया है। वे विजातीय द्रव्य मानव-शरीर को हानि पहुँचाते हैं। इसे लगातार देते रहने से मनुष्य का स्वास्थ्य विगड़ता है और अन्त में वह महाकाल के गाल में समा जाता है। अतः आप अपना पवित्र, निर्दोष, अमृततुल्य मूत्र (जो विषघ्न, पित्तघ्न, वातघ्न, शोथघ्न, कफघ्न, कृमिघ्न, तथा रसायन हैं, जिसमें प्राकृतिक, आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, होमियोपैथिक, बायोकेमिक, यूनानी आदि पद्धति की दवाओं के गुण भी विद्यमान हैं) का प्रतिदिन प्राशन कर नीरोग तथा दीर्घायु बनें।

अचूक दवा

आप मानसिक श्रम करते हों या शारीरिक श्रम; आप पहाड़ की यात्रा पर जायें या पद-यात्रा पर, आप हवाई जहाज से चलें या जल-जहाज से—यदि आपको किसी भी समय हार्ट अटैक हो जाय, रक्तचाप कम या ज्यादा की शिकायत हो, मिरगी आने की स्थिति हो, सिर-दर्द हो, चक्कर आये, पैर थर्राने लगे, बदन से पसीना छूटे, थकावट महसूस हो तो आप संकोच छोड़कर तत्काल मूत्र-पान कर लें। यह आपकी परेशानी तुरत दूर कर देगा और आप सामान्य स्थिति में आकर अपना अधूरा कार्य पूरा करने में सक्षम हो जायेंगे।

स्वमूत्र के सम्बन्ध में परम्परागत प्रमाण : ३ :

प्राचीन प्रमाण

स्वमूत्र के सम्बन्ध में आज जितनी चर्चा चल रही है, क्या इसी तरह पहले भी कभी चर्चा होती थी ? यह प्रश्न कई बार सामने आया है। इसका उत्तर 'शिवाम्बु' शब्द में ही निहित है। भगवान् शंकर ने विभिन्न परिस्थितियों तथा अनेक अवसरों पर इस बारे में विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। संस्कृत पद्य में हठयोगियों का प्राचीन ग्रंथ 'शिवाम्बुकल्प' है। वह डामरतन्त्र का एक भाग है। उसमें अमरौली मुद्रा का विश्लेषण करते समय भगवान् शंकर ने माता पार्वती को बताया है कि कैसे इसकी साधना करनी है और इस साधना-पद्धति में किन-किन बातों का उपयोग है ? यह उपयोग-आख्यान स्वमूत्र के बारे में सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण है।

प्रयोग-विधि

शिवाम्बुकल्प में २१ श्लोक केवल यह संकेत करते हैं कि मूत्र के लिए कौन-सा पात्र उपयुक्त है, कैसे पान किया जाय और उससे क्या लाभ है ?

भगवान् शंकर कह रहे हैं—हे पार्वती ! सोना, चांदी, ताँबा, काँसा पीतल, लोहा, जस्ता, मिट्टी, बाँस, बेल, शंख, हड्डी, चमड़ा आदि का जो भी पात्र हो, उसमें साधक शिवाम्बु ग्रहण कर सकता है, लेकिन इन सबमें उत्तम मिट्टी का पात्र और सर्वोत्तम ताँबे का पात्र होता है।

खारा, कड़ुआ, तीखा पदार्थ न खानेवाला, सुपच तथा सात्त्विक भोजन करनेवाला, जितेन्द्रिय साधक रात को भूमि पर शयन करे। चौथे प्रहर में उठकर वह विवेकी एवं उच्चाशयवाला साधक पूर्व दिशा की ओर मुंह करके मूत्रोत्सर्ग करे। आदि तथा अन्त की धारा छोड़ मूत्र-पान के लिए मध्य की धारा

सुरक्षित कर ले क्योंकि वह उत्तम होती है। हे शिवे ! जैसे साँप के मुँह और पूँछ में जहर होता है, वैसे ही मूत्र-धारा के विषय में भी यह बात प्रसिद्ध है।

वृद्धावस्था एवं रोग का नाश करनेवाले शिवाम्बु को दिव्य अमृत बताते हुए भगवान् शंकर ने कहा है कि सर्वप्रथम आवश्यक क्रिया, मुखशुद्धि आदि करने के बाद इसे पीना चाहिए।

एक मास तक शिवाम्बु-पान करने से अन्तर निर्मल होता है।

दो मास के प्रयोग से इन्द्रियों में पटुता आती है और उनकी शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

तीन मास के प्रयोग से रोग आदि दुःख नष्ट होते हैं।

चार मास तक निरन्तर पान करने से असाध्य रोगों से मुक्ति मिलती है।

पाँच मास के प्रयोग से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

छः मास के प्रयोग से बुद्धि तीव्र होती है और प्रयोगकर्ता शास्त्रज्ञ हो जाता है।

सात मास के प्रयोग से जो शक्ति प्राप्त होती है, वह अद्वितीय होती है।

आठ मास के प्रयोग से सोने जैसी कांतिवाला हो जाता है।

नौ मास तक निरन्तर सेवन करने से क्षय और कुष्ठ-रोग नष्ट हो जाते हैं।

दस मास के प्रयोग से व्यक्ति अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है।

ग्यारह मास के प्रयोग से सारे अंग निर्मल एवं कान्तिमय हो जाते हैं।

एक वर्ष सतत प्रयोग करनेवाला व्यक्ति सूर्य जैसा तेजस्वी हो जाता है।

दो वर्ष के प्रयोग से पृथ्वी-तत्त्व, तीन वर्ष के प्रयोग से जल तत्त्व, चार वर्ष के प्रयोग से अग्नि-तत्त्व, पाँच वर्ष के प्रयोग से वायु-तत्त्व, छः-सात वर्ष के प्रयोग से अहंकार-तत्त्व और आठ वर्ष के प्रयोग से महत्-तत्त्व पर विजय मिल जाती है।

नौ वर्ष तक स्वमूत्र का प्रयोग करनेवाला जन्म-मरण से रहित हो जाता है।

दस वर्ष के प्रयोग से वह श्रमरहित खेचर अर्थात् आकाश में चलनेवाला हो जाता है।

ग्यारह वर्ष के प्रयोग से वह अन्तर्नाद सुनता है।

बारह वर्ष का प्रयोग पूर्ण कर लेनेवाले को सर्प आदि विषैले प्राणी पीड़ा नहीं पहुँचाते। विषादि से वह अप्रभावित रहता है। उसे अग्नि जला नहीं सकती। वह लकड़ी की तरह पानी पर तैरने लगता है।

शिवाम्बु के सम्बन्ध में उपर्युक्त तथ्य सम्प्रदाय विशेष की साधना के सन्दर्भ में प्रकट होते हैं। इसके साथ शिवाम्बुकल्प में विशिष्ट मंत्र, जप, होम और हवन की चर्चा के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट किया गया है कि अमुक औषधियों के चूर्ण के साथ शिवाम्बु सेवन करने से अमुक लाभ होता है। इस क्रम में कुछ सांकेतिक शब्द भी हैं, जिनका गूढ़ रहस्य प्रकाश में आना बाकी है। सतत खोज की आवश्यकता को कौन नकार सकता है? फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि शिवाम्बुकल्प से व्यक्ति दीर्घायु और नीरोग होता है। यह हर प्रकार के रोगों की अचूक दवा है। पुराने मूत्र की मालिश से भी अनेक रोग दूर होते हैं। अतः स्वमूत्र-प्राशन, कल्प तथा मालिश का रोगोपचार में समान महत्त्व है।

क्या यह सिद्ध नहीं होता कि शिवाम्बु-कल्प के कारण ही विषधर जन्तु तथा हलाहल भगवान् शंकर का कुछ नहीं बिगाड़ सके? वह कौन-सी चिकित्सा-प्रणाली थी जो भगवान् शंकर के पुत्र की गर्दन कट जाने पर उसकी जगह हाथी की सूँड़ जोड़ने में सफल रही? इसका उत्तर शिवाम्बु-कल्प-चिकित्सा-प्रणाली के सिवा और क्या हो सकता है?

अन्य अभिमत

१. अथर्ववेद ने मानव-मूत्र को चिकित्सा-बीज बताया है।

२. सुश्रुत ने मानव-मूत्र को विषघ्न कहा है।

३. आयुर्वेद ने हारीत, वृद्धवाग्भट्ट, अष्टांगसंग्रह, भावप्रकाश, योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों ने भी मानव-मूत्र को विषघ्न, कृमिघ्न, वातघ्न, पित्तघ्न, शोथघ्न, कफघ्न, निर्दोष तथा रसायन सिद्ध किया है।

४. वेद, शास्त्र, पुराण, जैन, बौद्ध, योगादि की प्रामाणिक पुस्तकों में 'मानव-मूत्र' प्रयोग का विषद वर्णन है।

५. ईसाइयों की धर्म-पुस्तक 'पुरानी बाइबिल' के ५वें अध्याय में 'मानव-मूत्र' को 'जीवन-जल' कहा है।

६. आयुर्वेदिक, यूनानी तथा एलोपैथी दवाओं के निर्माण में मानव-मूत्र का प्रयोग होता है।

७. अघोरपन्थी सन्त इसे महामृत कहते हैं और सिद्धि के लिए अमोघ अस्त्र मानते हैं।

८. आधुनिक मूत्र-चिकित्सा के आचार्य दिवंगत जे० आर्मस्ट्रांग के शब्दों में "स्वमूत्र पीने के बाद वह शरीर के सभी पाचक अवयवों में से गुजरकर छनता जाता है। जैसे-जैसे अधिक छनता है वैसे-वैसे अधिक स्वच्छ होता है। मूत्र पहले शरीर को स्वच्छ करता है, फिर शरीर में जहाँ-तहाँ जमे हुए विजातीय द्रव्यों को दूर करता है और अन्त में रोग से जीर्ण-शीर्ण होनेवाले अंगों को पुनर्जीवन प्रदान करता है। यह अनेक असाध्य रोगों को भी मिटाता है।"

९. आधुनिक भारतीय मूत्र-चिकित्सा के सन्त दिवंगत रावजीभाई मणिभाई पटेल के अनुसार : "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, ये पाँच महाभूत हैं, जिनसे यह सृष्टि बनी हुई है। मानव-देह भी इन्हीं पाँच तत्त्वों से बनी है। ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को एक जैसी देह दी है और प्रत्येक स्वस्थ देह में समुचित परिमाण में पाँच तत्त्व होते हैं। मनुष्य के अपने दोष से जब उस परिमाण में कमी-बेशी होती है तब उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। उस बिगड़े हुए स्वास्थ्य को फिर से ठीक करने के लिए पाँच तत्त्वों के परिमाण की कमी-बेशी को ठीक कर लेना चाहिए। यह कार्य करने की शक्ति केवल 'स्वमूत्र' में है। पृथ्वी को जितना समुद्र का आधार है उतना ही आधार मानव-देह को 'स्वमूत्र' का है। पृथ्वी के निर्माण तथा जीवन में 'समुद्र' का जो स्थान है, मानव-देह में वह स्थान 'स्वमूत्र' का है। जैसे सभी महाभूतों को आत्मसात् करने की शक्ति जल में है, वैसे ही शरीर में रहे हुए सभी तत्त्वों को आत्मसात् करने की शक्ति उसके मूत्र में है।

१०. जीव विज्ञान और शरीर-विज्ञान के आधुनिक ज्ञाता मानते हैं :

"मूत्र रुधिर का जलीय अंश है। रुधिर रक्तवाहिनियों द्वारा गुर्दे में जाता है। वहाँ उसका जलीय अंश अलग होकर खमीर की प्रक्रिया से मूत्र में बदल जाता है।"

११. "स्वमूत्र अमृत है। मनुष्य के शरीर में रस-ग्रन्थियों से झरनेवाले जीवन-रस, जिन्हें 'हारमोन्स' कहते हैं, शरीर के लिए एक उत्तम आहार है। क्योंकि उन ग्रन्थियों में से झरनेवाले रसों का कुछ भाग गुर्दे में छनकर मूत्र के साथ बाहर निकलता है।"

१२. हठयोगप्रदीपिका के अनुसार : शिवाम्बु की पहली धारा में पित्त और पिछली धारा निस्सार होती है, इसलिए इन दोनों धाराओं को छोड़कर मध्य की शीतल धारा को पीने का विधान है।

मूत्र का स्वाद

मूत्र के स्वाद के सम्बन्ध में झूठा प्रचार किया जाता है। वास्तव में मूत्र के स्वाद में कोई खास विचित्र बात नहीं है। स्वस्थ मनुष्य का मूत्र वर्षा के ताजा पानी जैसा होता है, वह जरा-सा खारा होता है। गरमी में कम होता है, लाल-पीला होता है—अरुचिकर-सा लगता है। मेहनत करनेवालों का मूत्र खारा, खट्टा, कसैला और कड़ुआ होता है आदि। खान-पान, श्रम के अनुसार मूत्र तथा मूत्र-स्वाद में परिवर्तन होता रहता है। जैसी खुराक खायी जाती है उसी प्रकार की उसकी गंध और स्वाद भी होता है।

द्रव्य और गुण की दृष्टि से अमूल्य

मूत्र प्राकृतिक देन है। शरीर के स्वास्थ्य की किसी भी प्रकार की कमी को पूर्ण करने के लिए सिर्फ यही एक वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पूर्ण तथा सर्वथा पूर्णगुण-युक्त द्रव्य है। यह द्रव्य और गुण की दृष्टि से अमूल्य है। इसका उपयोग करने के लिए धन और समय को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मनसा, वाचा, कर्मणा इसमें निष्ठा और श्रद्धा अपेक्षित है। यह प्रत्येक पदार्थ से अत्यधिक प्रभावशाली है।

अतः पाठकों का कर्तव्य होता है कि 'स्वमूत्र-चिकित्सा-पद्धति' को पुनर्स्थापन हेतु मूत्र के सम्बन्ध में प्रचारित गलत धारणाओं तथा मान्यताओं को अपने अनुभव की कसौटी से ठुकराकर 'मानव-मूत्र' का सही मूल्यांकन कर इस पद्धति का वास्तविक मार्ग-दर्शन करें।

मूत्रोपचार-विधि : ४ :

स्वमूत्र-चिकित्सा निम्न छः प्रकार से करें :

(१) स्वमूत्र से सारे शरीर की मालिश करना,
(२) स्वमूत्र पीना,
(३) केवल स्वमूत्र और पानी के साथ उपवास करना,
(४) स्वमूत्र की पट्टी रखना,
(५) स्वमूत्र के साथ अन्य प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग करना,
(६) स्वमूत्र को सूर्य-किरण देकर प्रयोग करना।

स्वमूत्र-मालिश कैसे करें ?

(क) बड़े फोड़े, चमड़ी की सूजन, चीरे, जख्म, फफोले और आग के घाव आदि को छोड़कर शेष सभी रोगों के उपचार का आरम्भ स्वमूत्र-मालिश से करना चाहिए। मालिश के लिए छत्तीस घण्टे से सात-आठ दिन का पुराना स्वमूत्र ही अत्यधिक फायदेमन्द सिद्ध हुआ है। पुराना होने पर इसमें अमोनिया नामक द्रव्य बढ़ जाता है। अमोनिया के कारण वह मूत्र शरीर के लाखोंलाख छिद्रों में जल्दी से और ज्यादा परिमाण में दाखिल हो जाता है। (एक घनफुट मानव-शरीर में दस लाख छिद्र होते हैं तथा शरीर में साढ़े तीन करोड़ से ज्यादा रोमकूप होते हैं।)

(ख) प्रत्येक व्यक्ति को मालिश के लिए प्रतिदिन करीब आधा सेर स्वमूत्र की आवश्यकता है। सात बड़ी शीशियों में सात दिन के पुराने स्वमूत्र का

संग्रह क्रम से रखा जाय। शीशियों का मुँह हमेशा बन्द रखा जाय, ताकि उसमें कोई भी जीव-जन्तु मरने न पाये। मानव-मूत्र कृमिनाशक है। उसमें कीड़े नहीं पड़ते। शीशियाँ इस क्रम से रखी जायँ, ताकि जो शीशी खाली हो जाय वह भरती जाय। सर्दी की ऋतु में या मनुष्य की प्रकृति के अनुसार रखा हुआ मूत्र थोड़ा गरम भी किया जा सकता है। पहले रखे हुए स्वमूत्र में से एक पाव मूत्र एक कटोरी में डालकर तलवे से कमर तक में सुखा दें और जो गंदा अंश कटोरी में बचे उसे गिरा दें। फिर एक पाव लेकर कमर से सिर तक मालिश करनी चाहिए। मालिश हलके हाथ से करनी चाहिए, ताकि रोगी या मालिश करानेवाले को कष्ट न हो। हाथ ऊपर-नीचे ले जाना चाहिए। किस अंग पर कितनी मालिश करें, आवश्यकतानुसार स्वयं निश्चित कर लें। अगर मालिश के लिए अपना मूत्र पर्याप्त न हो, तो दूसरे स्वस्थ व्यक्ति का (जो उसी प्रकार का आहार लेता हो) मूत्र ले सकते हैं।

किसी भी रोग में, स्वमूत्र-प्रयोग मालिश से प्रारम्भ किया जाय तो पहले सप्ताह में ही फायदा झलकने लगेगा। हाँ, चार-पाँच दिन की मालिश के बाद शरीर की गरमी बाहर आने लगती है और शरीर पर लाल रंग की सफेद मुँहवाली फुन्सी निकल आती है। कभी-कभी इनमें खुजली बढ़ जाती है। कभी-कभी खुजलाने से बड़े-बड़े फोड़े निकल आते हैं। उससे कदापि न तो घबड़ायें और न उसका बाहरी इलाज ही करें। मूत्र-मालिश करते जायँ। जरा जोर से मालिश कर देने पर वे फुन्सियाँ फूट जायेंगी और जहाँ उसमें मूत्र दाखिल हुआ वहाँ वे शांत हो जायेंगी। बड़े फोड़े होने पर गरम मूत्र से दो-तीन बार सेंक कर दें। ऐसा इसलिए होता है कि मालिश से शरीर के छिद्रों द्वारा मूत्र जब अन्दर जाता है तो छोटे-छोटे रोग भागने लगते हैं, जिनकी यह पहली प्रतिक्रिया है। खुजली, दाद, एक्जिमा आदि तथा शरीर के अन्य सामान्य रोग केवल दस-पन्द्रह दिन की मालिश से दूर होने लगते हैं। किन्तु यदि गम्भीर और जीर्ण रोग हों, जिसे सूई लेकर या दवा की पुड़िया खाकर हटाया नहीं जा सका है, उस असाध्य-से-असाध्य रोग को मिटाने के लिए स्वमूत्र और निर्मल पानी के साथ उपवास करना ही होगा। मालिश करने के दो घण्टे बाद गुनगुने या ठण्डे जल से स्नान

करना चाहिए। किसी प्रकार के साबुन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मालिश करने के बाद धूप-स्नान लिया जा सकता है। मेहनत भी की जा सकती है। स्वमूत्र-चिकित्सा में मूत्र-मालिश का एक अद्वितीय महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपवास में यदि नियमित मूत्र-मालिश न की गयी तो उस उपवास का सारा असर जाता रहता है और वह निष्फल सिद्ध होता है। जिन्हीं दो वस्तुओं के संघर्षण से गर्मी पैदा होती है।

स्व-मूत्र पीने का तरीका

मूत्र-पान से लोग घृणा करते हैं। उसके स्वाद और गंध के बारे में व्यर्थ का गलत और झूठा तर्क करते हैं। भावप्रकाश के अनुसार स्व-मूत्र विषघ्न, रसायन और निर्दोष है। भगवान् शंकर के अनुसार यह दीर्घायु प्रदान करनेवाली, बुढ़ापे को दूर भगानेवाली, सर्वदा नीरोग रखनेवाली रसायन है। तब इससे घृणा क्यों? फिर भी मानव-मूत्र-सम्बन्धी पुरानी धारणाएँ, जो जन-जन के मानस-पटल पर अंकित हो गयी हैं, उन्हें अनुभव की कसौटी से ही हटाया जा सकता है। यदि स्व-मूत्र में रोगी को रोग-मुक्त करने, दीर्घायु बनाने तथा स्वस्थ मनुष्य को पूर्ण स्वस्थ रखने के गुण विद्यमान हैं तो इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। स्व-मूत्र-सम्बन्धी पूर्व धारणाओं को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम इसके बाहरी गुणों से लाभ उठाया जाय, फिर स्वतः इसके प्राशन की भावना पैदा हो जायगी। अगर किसी व्यक्ति को जहरीले साँप, विषखोपड़ा आदि ने काट लिया हो तो उसे तुरत किसीका एक गिलास पेशाब पिला दिया जाय। हर पन्द्रह मिनट पर तब तक पिलाया जाय, जब तक वह पूर्ण स्वस्थ न हो जाय। आवश्यकतानुसार दो या तीन बार भी पिला सकते हैं। एक साथ एक गिलास से ज्यादे-पर डेढ़ पाव से कम भी पिला सकते हैं। जहर समाप्त हो जायगा। अगर विष खा लिया है तो इसी प्रकार स्वमूत्र-प्राशन से ही वह भी दूर हो जायगा। अगर कहीं कट गया हो, ठोकर लगी हो, उससे खून निकलता हो, दर्द हो या छिल गया हो तो उस पर पेशाब कर दीजिये। तत्काल अच्छा हो जायगा। टिटनेस की जहरीली सूई की जरूरत नहीं पड़ेगी। आँख उठ आयी हों, बिलनी हुई हो,

ताजा मूत्र प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन बूंद आंख में तीन-चार बार टपकाने से या कपड़े की मूत्र से तर पट्टी रख देने से आंख अच्छी हो जायगी। कान-दर्द में प्रतिदिन दो-तीन बार दो-दो, तीन-तीन बूँद टपकाने से कान-दर्द अच्छा हो जायगा। प्रतिदिन गरम करके ताजा मूत्र से धोने तथा टपकाकर रूई का फाहा लगा देने से कान का दर्द, बहना, झनझनाना ठीक हो जाता है। लगातार सेवन से बहरापन दूर हो जाता है तथा मूत्र के साथ उपवास करने से आंख का मोतियाबिन्द भी गल जाता है। नाक-दर्द यानी नाकड़ा या नजला में भी इसी प्रकार का प्रयोग करने से लाभ होता है। दाँत के रोग में प्रतिदिन दाँत दबाकर कुल्ला करने तथा मंजन करने से पायरिया रोग हमेशा के लिए भाग जाता है। यदि कोई दाँत हिलता हो, दर्द करता हो तो रूई में स्वमूत्र का फाहा वहाँ दबा देने से तुरन्त दाँत-दर्द दूर हो जाता है। सिर-दर्द में नाक से नास लेने तथा सिर में मालिश करने से सिर-दर्द ठीक हो जाता है। दमा-रोग में छाती दुखती हो, साँस लेने में कठिनाई हो, कफ ने परेशान किया हो, तो मूत्र गरम करके छाती पर मालिश करें और छाती पर मूत्र से तर कपड़े की पट्टी रखने से परेशानी दूर हो जाती है। पेट सूज आया हो, दर्द हो तो पेट पर तीन-चार तह कपड़े की मूत्र-पट्टी रखने से कुछ समय बाद लाभ होता है। बुखार में कुनकुने मूत्र से मालिश करने तथा स्वमूत्र-प्राशन से बुखार की गरमी समाप्त होता है, रोगी को आराम मिलता है और रोगी नीरोग हो जाता है। एड़ी में या अन्यत्र कहीं लगातार दर्द हो तो गरम मूत्र से लगातार मालिश करने से वह दर्द समाप्त हो जाता है। स्त्री-रोगों पर भी इसी विधि से दवा करनी चाहिए। बच्चे को प्रतिदिन उसीके मूत्र से मालिश करने तथा उसे उसी का एक चम्मच मूत्र पिलाते रहने से वह हृष्ट-पुष्ट तथा तन्दुरुस्त रहता है। नाल काटने के बाद मूत्र की तर पट्टी नाल पर रखने से टिटनेस नहीं होता और सूखा रोग हमेशा के लिए भाग जाता है। और अगर नाल पक गया हो तो गरम मूत्र टपकाने या मालिश करने से या पट्टी बाँध देने से ठीक हो जाता है। यदि कोई अंग सूख गया हो, लकवा मार दिया हो, शून्य हो गया हो, काँपता हो तो तीन से सात दिन तक के मूत्र से पैर के

तलवे से सिर तक मालिश कर आधा सेर मूत्र शरीर में प्रतिदिन सुखाने तथा स्वमूत्र प्राशन तथा स्वमूत्र-कल्प करने से दूर हो जाता है। बवासीर, फीलपाँव तथा हाइड्रोसील आदि में उक्त विधि से मालिश करने तथा कल्प-सेवन से रोगी स्वस्थ हो जाता है। उक्त क्रिया के बाद मूत्र-प्राशन में कोई कठिनाई नहीं होगी।

स्वमूत्र-पान में विशेष ध्यान यह रखना चाहिए कि अपना ही मूत्र पीया जाय, चाहे उसका रंग, स्वाद और गन्ध कैसा ही हो। चाहे वह गाढ़ा हो या गँदला, उसके बाहरी रूप, रंग को देखकर झिझकना नहीं चाहिए, क्योंकि यह उस रोगी के लिए गुणकारी होता है। परन्तु विशेष परिस्थिति में (यदि रोगी को मूत्र न हो) रोगी को दूसरे का मूत्र पिलाना आवश्यक है, क्योंकि यदि किसीको साँप काटा हो, मूत्र बन्द हो गया हो, मूच्छित हो, ऐसी स्थिति में रोगी को मूत्र नहीं होगा। उस स्थिति में उपस्थित किसी भी व्यक्ति का मूत्र पिलाना परमावश्यक हो जाता है, ताकि रोगी तत्काल रोग-मुक्त हो जाय।

कैन्सर रोगी को स्वमूत्र-पान, स्वमूत्र-कल्प, मूत्र-मालिश और उभरी हुई गिल्टी पर मूत्र-पट्टी रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसे नमक छोड़ देना चाहिए। यदि उसके कान में दर्द हो तो गरम पेशाब कान में डालते रहना चाहिए तथा प्रतिदिन ताजे पेशाब का मंजन और कुल्ला करवाना चाहिए। सिर का बाल कटवाकर सिर पर मूत्र-पट्टी रखनी चाहिए। उक्त विधि अपनाने से उसे जल्द लाभ होगा। कैंसर रोगी को दुग्ध देना वर्जित है। इससे घाव पर जाले पड़ जाते हैं। घाव अच्छा नहीं होता।

स्वस्थ मनुष्य को प्रतिदिन प्रातः उठकर स्व-मूत्र की पहली धार और अन्तिम धार छोड़कर मध्य की धार एक पाव पीना चाहिए। खाना खाने के पूर्व और खाना खाने के बाद भी ताजा स्व-मूत्र की जितनी भी मात्रा हो, पर एक पाव से ज्यादा नहीं, पीना चाहिए। जब स्व-मूत्र और पानी के साथ उपवास किया हो तो दिन-रात में जितना भी स्व-मूत्र हो, सभी पीना चाहिए। उपवास के बाद या पहले पन्द्रह वर्ष के ऊपर के लोगों को एक पाव, पन्द्रह वर्ष के नीचे आधा पाव, दस वर्ष के नीचे एक छटाक, दो वर्ष के नीचे आधी छटाक, एक वर्ष

के नीचे दो चम्मच और छः माह के नीचे एक चम्मच पीना चाहिए। इससे ज्यादा सेवन करने पर पचने में दिक्कत होगी और आहार में कमी करनी पड़ेगी।

उपवास करने का तरीका

सभी रोगों में विशेषकर गम्भीर और पुराने रोगों में स्व-मूत्र के साथ उपवास (कल्प) करना बहुत जरूरी है। रोगी की स्थिति के अनुसार उपवास की संख्या का निर्माण किया जाय। उच्च न्यून-रक्तचाप तथा हृदय-दुर्बल रोगी को सिर्फ स्व-मूत्र के साथ उपवास नहीं करना चाहिए। उसे दिन-रात में कम-से-कम एक बार हल्का भोजन भी लेना चाहिए, ताकि उसके स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर न पड़े।

उपवास में मुख्यतः अपना दिन-रात का सभी मूत्र पीना होता है, किन्तु जो व्यक्ति सिर्फ दिन का ही मूत्र पीना चाहते हैं उन्हें उपवास की अवधि बढ़ानी होगी। आवश्यकतानुसार उपवास में पानी भी पीया जा सकता है। कभी-कभी भयानक रोगों में स्व-मूत्र पीते वक्त मचली आती है, उससे घबड़ाना नहीं चाहिए। उस वक्त दो-चार मिनट के लिए स्व-मूत्र पीना बन्द कर दें। पानी पी लें। इसके बाद स्व-मूत्र पीने से जी नहीं मिचलेगा। उपवास के समय प्रतिदिन दो-तीन बार मालिश होनी चाहिए। रोगी जितना ही जल्दी उपवास करने का निश्चय कर लेगा, उतना ही जल्दी स्वस्थ होगा।

उपवास के समय मालिश क्यों आवश्यक है? इसलिए कि स्व-मूत्र पीकर उपवास करने से हृदय की धड़कन बढ़ती है और नाड़ी तेज चलने लगती है। ऐसी स्थिति में घबड़ाना नहीं चाहिए। हृदय और नाड़ी की गति अपने-आप ठीक हो जायगी। मालिश करने में कमी न हो तो हृदय की धड़कन नहीं बढ़ेगी। स्व-मूत्र के साथ उपवास करने में रोगी को इसलिए कमजोरी महसूस नहीं होती, क्योंकि जिन क्षारयुक्त आहारों से हमारे शरीर का पोषण होता है वे क्षार असली स्वरूप में स्व-मूत्र में होते हैं, जिनसे रोगी को पोषण मिलता रहता है और अशक्ति नहीं मालूम होती। रोगी जितना अधिक स्व-मूत्र लेगा उसे

उतनी अधिक खुराक मिलेगी। रोगी को उपवास में कदापि घबड़ाना नहीं चाहिए। शरीर में जमा हुआ कचरा या हानिकारक द्रव्यों के पटल या आंतों में चिपके हुए हानिकारक पदार्थ, छाती, फेफड़े, पेट आदि अंगों में जमा हुआ कफ और अन्य जमाव इन सबको खोज-खोजकर बाहर निकालने का कार्य मूत्र करता है। इसलिए उपवास में दस्त, कै, आदि की प्रतिक्रिया होने लगे तो बिलकुल न घबड़ायें। यही समझें कि शरीर से विकार निकल रहा है और शरीररूपी घर की दीवाली की तरह सफाई हो रही है। उस समय की सभी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखते रहना चाहिए, ताकि यह अनुभव अन्यत्र काम में आये। प्रकृति को अपना काम करने दें। उसे कहीं छेड़ें नहीं। धीरज खोकर किसी अन्य चिकित्सा की शरण में न भागें।

उपवास कैसे छोड़ें ?

उपवास में जितनी सावधानी बरतनी पड़ती है उससे ज्यादा सावधानी उसे छोड़ने में बरतनी चाहिए। संतरे या मोसंबी का रस पीकर उपवास छोड़ने की परम्परा है। खट्टी मोसम्बी का रस कदापि न लें। संतरा-मोसम्बी न मिले तो उसके बदले पाँच-सात खजूरों को या एक छटाक बीजरहित काली द्राक्षा को काँच के बर्तन में, एक पाव पानी में भिगो रखें, पारण (उपवास-समाप्ति) के समय उन्हें मसलकर, छानकर रोगी को पिला दें। मधुमेह के रोगी को यह रस न दिया जाय। दोपहर को फलों का रस, शाम को पपीता आदि रसदार फल। दूसरे दिन यही अनुपान कुछ ज्यादा मात्रा में, तीसरे दिन सुबह मोसम्बी का रस, दोपहर को बहुत कम नमकवाला मूँग का पानी, शाम को गाय का दूध (भैंस का पतला) दिया जाय। इस प्रकार रुचि और शक्ति के अनुसार आहार उतने दिन तक क्रमशः बढ़ाते जायें, जितने दिन का उपवास किया गया था यानी पूर्ण भोजन उतने दिन के बाद करें। सम्भव है कि कुछ दिन तक अलोना रहने पर नमक खाने से मुख में छाले पड़ जायें या सूजन आ जाय। घबड़ायें नहीं। वह स्वतः ठीक हो जायगा।

मूत्र की पट्टी कैसे रखें ?

शरीर के किसी भाग में बड़ा फोड़ा हो, छुरी आदि का जख्म हो, फफोला हो, चमड़ी जल गयी हो, सूजन हो, ददोरे या अन्य उभार हों, आँख दुखती हो, गिलटी हो, पेट में सूजन हो, तब मूत्र से तर की हुई दो-चार तहवाली पट्टी उस भाग पर रखनी चाहिए, क्योंकि उक्त स्थिति में उन स्थानों पर मालिश नहीं हो सकती। उस पर रखी पट्टी पर मात्र मूत्र डालते रहें, ताकि वह सूखने न पाये। कई घंटे तक पट्टी रख सकते हैं। उपवास में भी ऐसे स्थान पर पट्टी रख सक्ते हैं। इस क्रिया से मूत्र के रोगनाशक तत्त्व रोगी के शरीर में दाखिल होकर भीतर और बाहर से लाभकारी होंगे। इस प्रयोग के लिए मूत्र की कमी में पुरुष के लिए स्वस्य पुरुष का और स्त्री के लिए स्वस्थ स्त्री का ही मूत्र काम में लाया जाय।

स्वमूत्र के साथ अन्य प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग कैसे करें ?

स्व-मूत्र चिकित्सा को शुद्ध प्राकृतिक चिकित्सा कहना उचित होगा। पाँच तत्त्वों से बना हुआ यह शरीर यदि अस्वस्थ हो जाय तो उसे स्वस्थ बनाने के लिए उन्हीं तत्त्वों की सहायता लेना श्रेयस्कर है। आयुर्वेद में बहुत-सी दवाएँ मूत्र की भावना से तैयार की जाती हैं और वे अत्यधिक गुणकारी होती हैं। मानव-मूत्र में पंचभूत के सभी गुण विद्यमान रहते हैं। स्व-मूत्र के साथ अन्य प्राकृतिक पदार्थों का (आवश्यकता नहीं है। यदि कभी आवश्यकता पड़ जाय तो) उपयोग कैसे किया जाय :

१. कंकड़, रेत तथा रेह से रहित चिकनी मिट्टी स्व-मूत्र में भिगोकर मोटी रोटी की तरह बनाकर पेट, पेड़ू, शिरादि पर एक घण्टा रखना। रखा हुई मिट्टी का दुबारा प्रयोग वर्जित है।

२. कंकड़, रेत तथा रेह रहित चिकनी या काली (तालाब की) मिट्टी स्व-मूत्र में खूब गूँथकर रोटी बनाकर कुष्ठादि चमड़ी के रोगों पर बाँधना। प्रयोग की हुई मिट्टी का दुबारा प्रयोग वर्जित है।

३. स्व-मूत्र में पानी मिलाकर एनिमा लेना।

४. स्व-मूत्र को गरम करके उपयोग करना।

५. गरम स्व-मूत्र से सेंकना।

६. जलमिश्रित स्व-मूत्र की भाप से स्नान करना।

७. शीशी में रखे हुए पुराने स्व-मूत्र को सूर्य की किरणें देकर रोगी को प्रयोग कराना।

८. आधी भरी शीशी में रखे मूत्र को अनेक बार हिला-हिलाकर उसकी शक्ति बढ़ाना और उपयोग करना।

९, रखे हुए स्व-मूत्र की नसवार लेना यानी नाक से सूँघना।

१०. चिकनी मिट्टी पेशाब की बूंदों से तर करके उसे आंख की बिलनियों तथा सूजनों पर बार-बार लेप करना।

११. चिकनी या तालाब की काली मिट्टी पेशाब में गूँथकर फोड़ों पर बार-बार रखने से फोड़ा अच्छा हो जाता है।

१२. मूत्र पीने के अलावा गोबर के साथ मूत्र मिलाकर बिच्छू, साँप, भौंरा तथा अन्यान्य विषैले जानवर या मच्छर काटने पर काटे हुए स्थान पर लेप करने या रखने से विष समाप्त हो जाता है।

१३. यदि सिर में गरमी से या किसी तरह फोड़े (चायीं-चूवाँ) निकल आये हों तो तीन दिन पुराने पेशाब से तर पट्टी सिर पर रखने तथा स्वमूत्र-पान तथा मूत्र-मालिश से वह दूर हो जाता है।

रोगी की प्रकृति, आयु, शारीरिक रचना, मौसम तथा रोगादि को ध्यान में रखकर उपर्युक्त उपायों का उपयोग करना चाहिए।

आवश्यक सूचनाएँ

स्वमूत्र-चिकित्सा के दौरान क्या न करें ?

१. निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार शास्त्रीय ढङ्ग से ही स्वमूत्र-चिकित्सा प्रारम्भ करें।

२. प्रयोग के दौरान किसी भी प्रकार की दवा का प्रयोग न करें, चाहे वह किसी भी चिकित्सा-पद्धति की या किसी माननीय व्यक्ति द्वारा ही दी गयी क्यों न हो।

३. तम्बाकू, शराब, सुरती, बीड़ी, सिगरेट, अफीम, भाँग आदि ऐसा कोई व्यसन हो तो उसको तिलांजलि देकर ही यह प्रयोग प्रारम्भ करें। क्योंकि प्रयोग आरम्भ करने के बाद उक्त व्यसन यदि व्यसनी चाहे तो अपने-आप दूर हो जाता है।

४. मिर्च, मसालेदार, गरिष्ठ और चटपटी चीजें न खायें।

५. मैदे की बनी हुई चीजें न खायें।

६. दानेदार चीनी और सेक्रीन का प्रयोग न करें।

७. टीन में रखे फलादि या उनके रसों का प्रयोग न करें।

८. पैश्चुराइज्ड दूध तथा उससे बनी हुई चीजें न खायें।

९. मशीन से कूटे चावल तथा पीसे आटे का प्रयोग न करें।

१०. डालडा घी का प्रयोग न करें।

११. अधिक तीखे पदार्थ, खट्टे, खारे, तीते अचार आदि न खायें।

१२. नहाने में साबुन का उपयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

स्वमूत्र-चिकित्सा के दौरान क्या करें ?

१. हल्का सादा भोजन करें। छाछ, मोसंबी फल, हरे साग आदि सुपाच्य का प्रयोग करें।

२. सुबह उठकर व्यायाम करें या टहलें।

३. आसनादि करें, प्राणायाम करें।

४. भोजन से पूर्व एक बार, भोजन के मध्य में दो बार थोड़ा-थोड़ा रस, छाछ या जल अवश्य पीयें।

५. भोजन के बाद कम-से-कम २०० कदम अवश्य चलें।

६. रात्रि-शयन से तीन घण्टे पूर्व भोजन करें। भोजन के बाद किसी प्रकार के रस, छाछ का प्रयोग न करें। जल का ही प्रयोग करें।

७. शयन से पूर्व जो भी मूत्र निकले (एक पाव से ज्यादा नहीं) अवश्य पीयें।

८. स्नान करने से पूर्व बैठकर अपने पुराने मूत्र में से कुछ मूत्र लेकर पाँच मिनट अपनी हथेलियों, अँगुलियों के सहारे धीरे-धीरे अपने सीने पर अवश्य मलें।

९. प्रातः उठकर शक्ति के अनुसार अपना मूत्र पीयें। उससे अपनी आँखें धोयें और गर्दन, मुख, कानों और सिर को तेजी के साथ उससे मालिश करें। फिर पानी से धो दें।

१०. चुल्लुभर मूत्र नाक में सुड़क कर चढ़ायें और निकाल दें। इससे नासिका साफ होती है और सिर-दर्द चला जाता है, नेत्र को प्रकाश मिलता है।

चेतावनी

पाठकों तथा प्रयोगकर्ताओं से अनुरोध है कि 'स्वमूत्र-चिकित्सा' प्रारम्भ करने के समय काफी सजग तथा सावधान रहें। पुस्तक में स्पष्ट की गयी विधि तथा अनुपान के अनुसार ही आचरण करें, क्योंकि 'स्वमूत्र-चिकित्सा' तथा 'मानव-मूत्र' के विरुद्ध सदियों से समाज में विषाक्त तथा घृणात्मक वातावरण बना हुआ है और आज धनलोलुप चिकित्सकों तथा दवा-निर्माताओं द्वारा भी मानव-मूत्र को जहर तथा हानिकारक द्रव्य कहकर प्रचार किया जाता है।

'स्वमूत्र-चिकित्सा' नामक इस प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित पद्धति द्वारा वर्षों से देश और विदेशों में निम्न प्रकार के सैकड़ों रोगियों के रोगों पर सफल चिकित्सा हुई है और आज तो इसकी लोकप्रियता सुदूर गाँवों तक फैलती जा रही है।

स्थानाभाव के कारण इस प्रथम भाग में रोगों का सिर्फ नाम देना ही उपयुक्त समझता हूँ। आशा है कि पाठक पुस्तक में वर्णित विधि के अनुसार साध्य एवं असाध्य हर प्रकार के रोगों को दूर करने में सक्षम होंगे। इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी रोग को दूर करने के लिए सबसे पहले तीन दिन पुराने स्व-मूत्र से मालिश प्रारम्भ कर देनी चाहिए। यदि साथ-साथ स्वमूत्र-प्राशन भी प्रारम्भ कर दिया जाय तो सात दिन में ही विशेष लाभ दीख

पड़ने लगेगा और छोटा-मोटा रोग तो इसी अवधि में समाप्त हो जायगा। यदि स्वमूत्र-प्राशन न भी किया जाय तो भी सात दिन में ही विशेष लाभ झलकने लगेगा और बाह्य रोग समाप्त हो जायेंगे। हाँ, सात दिन स्वमूत्र की मालिश करने के बाद स्व-मूत्रोपवास प्रारम्भ कर देना चाहिए। यदि रोग हल्का हो तो एक या दो ही दिन का उपवास करना चाहिए। जिस प्रकार का रोग हो और रोगी की जैसी प्रकृति हो, उसीके अनुसार मूत्रोपवास की अवधि निर्धारित करनी चाहिए। जीर्ण एवं असाध्य रोगी को दो मास का भी फल-रस के साथ उपवास करवाया जा सकता है। यदि उसका हृदय दुर्बल हो तो हल्का भोजन या फल-रस के साथ सात-सात दिन के कई उपवास हो सकते हैं या उपवास वर्जित कर देना चाहिए। मूत्रोपवास के बाद शरीर का कायाकल्प हो जाता है।

रोगों के नाम

(जिनको स्वमूत्र के प्रयोग से दूर किया गया है)

१. अंतिम कोटि का क्षय, २. गेन्ग्रीन (अंग का मारा जाना), ३. ग्रोथ एवं कैंसर, ४. गुरदे के रोग, ५. हृदय के रोग, ६. विविध ज्वर, ७. अंडकोष-वृद्धि, ८. घाव और जलने के जख्म, ९. मासिक धर्म की पीड़ा, १०. गुरदे की सूजन, ११. पीलिया, १२. मोतिया, १३. बीमार गुरदा, १४. क्षय-रोग, १५. सर्दी, खाँसी, दमा, १६. ब्लड कैंसर, १७. गले के रोग, १८. पेट के रोग, १९. आँत के रोग, २०. गुरदे के रोग, २१. वात-व्याधि, २२. चमड़ी के रोग, २३. आँख, कान, नाक, दाँत के रोग, २४. सिर के रोग, २३. गुदा के रोग, २६. इन्फ्लुएंजा, २७. बेहोशी की बीमारी, २८. अपस्मार, २९. हाथीपाँव, ३०. अंडकोष की पीड़ा, ३१. फाइलेरिया, ३२. कच्छवाली, ३३. शरीर की सूजन, ३४. चोट और जख्म, ३५. काँटे का दर्द, ३६. गर्भाशय की सूजन, ३७. रक्तप्रदर, ३८. मासिक धर्म व अन्य पीड़ाएँ, ३९. बालक का रोग, ४०. मस्क्यूलर डिस्ट्राफी, ४१. कलेजे का सिरोसिस, ४२. टाँगों का फ्रेक्चर, ४३. चित्त-भ्रम और बुरे विचार, ४४. वीर्यह्रास, ४५ घुटने की तीव्र पीड़ा, ४६. गठिया, ४७. विषैले जानवरों के काटने तथा विष का उपचार, ४८. बवासीर, ४९. हर प्रकार के कुष्ठ-रोग,

५०. लकवा, ५१. हाथ या शरीर का कोई अंग हिलना, ५२. प्लेग, ५३. हैजा या गेस्ट्रो, ५४. पागलपन, ५५. उदर-रोग, ५६. पथरी, ५७. मोतियाबिंद, ५८. जले हुए अंग, ५९. मिरगी, ६०. जहरबाद फोड़े, ६१. गुप्तरोग, मस्तिष्क ज्वर (इनफ्लाइटिस), चेचक आदि सभी रोगों पर सफल प्रयोग हो चुके हैं। अन्य आसन्न और अस्पष्ट रोगों पर भी आप इन्हीं उपचारों द्वारा अपने विवेक से प्रयोग कर लाभ उठा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वमूत्र-चिकित्सा मनुष्य के सभी साध्य एवं असाध्य रोगों की अचूक दवा है; बशर्ते श्रद्धा, निष्ठा और सतर्कता के साथ इसका प्रयोग किया जाय।

पाठक इसे अपनाकर धन, शक्ति और समय की रक्षा करते हुए समाज के रोगाकुल दुखियों का सही मार्ग-दर्शन करें।

विश्व-स्वास्थ्य संगठन को इस बात की चिन्ता है कि संसार के गरीब देशों में जो ४ करोड़ मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति हैं, उनकी चिकित्सा कैसे की जाय। मैं समझता हूं कि 'स्वमूत्र-चिकित्सा' इसके लिए उपयुक्त साधन है।

शिवाम्बुकल्प से स्वाम्बुकल्प : ५ :

मूत्र-चिकित्सा मन के संकल्प-विकल्पों का भण्डार, उन्मत्त का प्रलाप, नूतन अरण्यरोदन-सा सन्ताप या ज्ञानशून्य का अपलाप नहीं, अपितु सृष्टि के संहार-कर्ता शक्ति के अधिष्ठाता, सम्पूर्ण विज्ञानवेत्ता देवाधिदेव महादेव भगवान् शंकर द्वारा असंख्य जीवों के उद्धारार्थ निर्मित चिकित्सा-प्रणाली का एक स्वस्थ कल्प है, जिसे रोग-मुक्ति-विज्ञान कहा जा सकता है। भगवान् शंकर द्वारा चलाये गये अम्बुकल्प को हम शिवाम्बुकल्प कहते हैं।

शिव + अम्बु + कल्प में प्रयुक्त शिव शब्द भगवान् शंकर तथा कल्याण-प्रद का वाचक है तथा शिवाम्बुकल्प की भटकी मंजिल से पुनः अम्बुकल्प की पवित्र मंजिल तक हम सकुशल पहुँच सकते हैं।

अतीत के सर्वदेशीय सभी विचारक आचार्यों ने शिवाम्बुकल्प को स्वाम्बुकल्प के रूप में ही अपनाया है। आदिकालीन भारत में लोग स्वाश्रयी थे। मूत्र-चिकित्सा भी स्वाश्रवी थी। इसे अपनाकर लोग नीरोग तथा दीर्घायु होते थे। कालगति जानी नहीं जाती, चाहे कारण जो भी रहा हो। मानव के निरन्तर अन्वेषणों ने अपने चिकित्सकीय क्षेत्र को स्वाश्रयी राह से भटकाकर पराश्रयी राह पर चलने के लिए बाध्य किया। इसी बीच न मालूम कितनी चिकित्सा-पद्धतियों के अन्वेषण हुए और वे सभी प्रायः लुप्त होते गये। किन्तु मानव-मूत्र-चिकित्सा का अपना वास्तविक दर्शन होने के कारण वह आज तक अपने अलौकिक एवं चमत्कारिक गुणों के कारण किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र ही विद्यमान है। जहाँ कहीं भी उसके गुणों का उपयोग किया गया, पूर्ण सफलता मिली है। तत्पश्चात् अपने अन्वेषणों के कारण ऋषि-मुनियों ने मानव-जाति को चिकित्सा की दृष्टि से भरपूर करने के निमित्त 'आयुर्वेद' विज्ञान की अद्‌भुत रचना भी उसके अपने दर्शन के आधार पर सृजन कर मानव-जाति का बड़ा भारी उपकार किया। आयुर्वेद

विश्व का सबसे उत्कृष्ट लोकप्रिय स्वास्थ्य-विज्ञान बना। इससे रोगों का दमन नहीं, बल्कि उन्मूलन ही होता था। 'आयुर्वेद' भी पुरातन काल से आज तक अपने क्रमागत विकसित स्वरूप के कारण नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं के झकोरों का सामना करते हुए आज तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सका है, यह महत्त्वपूर्ण बात है। किन्तु वही आयुर्वेद स्वतंत्र भारत में आकाश-बेलि की तरह आधारहीन होकर विनाश के कंगूरे पर खड़ा हो गया है। यूनानी चिकित्सा-पद्धति की भी यही स्थिति है। अंग्रेजों ने अपने शासन-काल में 'एलोपैथी' चिकित्सा-प्रणाली को बढ़ावा दिया। देशभर में उसके राजकीय चिकित्सालय खोले गये। जोर-शोर से प्रचार का नतीजा यह हुआ कि लोगों की अभिरुचि 'एलोपैथी' की ओर बढ़ी। आयुर्वेद के मान्य चिकित्सक तथा गणमान्य लोग अपनी संतानों को वैद्य के स्थान पर डॉक्टर बनाने के लिए विदेश भेजने लगे। आयुर्वेदिक औषधियों की तरफ से लोगों की रुचि हटकर एलोपैथी की ओर आकृष्ट हुई। आज विश्वभर में एलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली का ही बोलबाला है, इसे ही राष्ट्रीय संरक्षण प्राप्त है। इसे ही अब अत्यधिक वैज्ञानिक तथा वास्तविक चिकित्सा-प्रणाली कहा जाता है। इस चिकित्सा-प्रणाली का प्रभाव लोगों के मानस-पटल पर इस तरह अंकित हो गया है कि इस पद्धति द्वारा दी जानेवाली दवाइयों और सूइयों की प्रतिक्रियाओं के विरुद्ध समाचारपत्रों में समाचार प्रकाशित होने के बावजूद लोग निरंतर उसीकी शरण में जाने के आदी होते जा रहे हैं।

एलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली द्वारा रोगों का उन्मूलन तो नहीं होता। हाँ, रोग तत्काल दब जाता है और रोगी को थोड़े समय के लिए आराम अवश्य हो जाता है। लेकिन कुछ ही समय बाद दबा हुआ रोग जब अपना भयानक और प्रबल रूप रोगी पर प्रकट करता है, तब उसकी स्थिति विशेष नाजुक और शोचनीय हो जाती है। रोगी धीरे-धीरे काल-कवलित हो जाता है।

एलोपैथी पद्धति की कुछेक दवाइयों और सूइयों की प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में उसी पद्धति के वैज्ञानिकों द्वारा निम्नलिखित मत व्यक्त किये गये हैं :

१. कुनैन—कुनैन से मलेरिया बुखार दब जाता है, पर अत्यधिक प्रयोग से चक्कर आने लगता है तथा बहरापन भी हो जाता है।

२. जुलाब की गोलियाँ—कब्ज के लिए जुलाब लेने से बड़ी आँतों में सूजन, सड़न पैदा हो जाती हैं, साथ ही बवासीर भी आ घेरती है।

३. स्ट्रेप्टोमाइसिन—इससे चक्कर आने लगता है, जमीन और आकाश घूमता हुआ दिखाई पड़ने लगता है।

४. सल्फाड्रग—इनके प्रयोगों से खाज, सूजन, पेशाब में खून आना, अनीमिया आदि रोग हो जाते हैं।

५. क्लोरोमाइसिन—इससे उदर-रोग तथा हृदय-शूल आदि पैदा हो जाता है।

६. पेन्सिलिन—इससे खाज, लाल चकत्ते, दाद आदि रोग पैदा हो जाते हैं। कभी-कभी यह मृत्यु का कारण भी बन जाता है। इससे डाइबिटीज, हृदय-रोग, क्षय, कैन्सर आदि हठीले और जीर्ण रोग पैदा हो जाते हैं।

७. एण्टीबायोटिक्स—इनके सेवन से स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

एलर्जी की दवा और सूई लेते रहने से हार्ट अटैक तक हो जाता है। इसी प्रकार इरगापाइरिन, इसीटीन, आर्सेनिक ओमना माइसिन, स्टेप्टो-इरवाजाइड आदि की शरीर पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है।

अभी हाल में अमेरिका के ख्यातिप्राप्त चिकित्सक श्री मोरेस एस० माजेल साहब ने आधिकारिक रूप से घोषणा की थी कि मानव-मूत्र से जिस भी किसी रोग की दवा का निर्माण होगा वह रामबाण सिद्ध होगी। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में कई गैलन मानव-मूत्र सड़ाकर तथा शोधकर सूई तैयार की है, जिसके एक बोतल का मूल्य लगभग बीस हजार रुपया और एक सूई का मूल्य साढ़े तीन सौ रुपया निश्चित किया गया है। इस सूई से हृदय-रोग तत्काल रफूचक्कर हो जायगा, किन्तु समूल नष्ट नहीं होगा। वे अन्य रोगों के लिए भी पर्याप्त मात्रा में मानव-मूत्र प्राप्त कर सूइयों तथा दवाइयों के निर्माण हेतु सक्रिय हैं। इसी प्रकार अमेरिका के एक

दूसरे ख्यातिप्राप्त चिकित्सक ने भी कैंसर रोग-निवारणार्थ मानव-मूत्र द्वारा सूइयों और दवाओं को तैयार किया है। उन्होंने भी मानव-मूत्र के अपरिमित गुणों की प्रशंसा की है। आज से लगभग पचास-साठ वर्ष पहले यूरोप और अमेरिका के व्यावसायिक चिकित्सक 'मानव-मूत्र' के गुणों से प्रभावित होकर विभिन्न रोगों पर रंग व जायका वदल-वदलकर मानव-मूत्र को विभिन्न रोग में, विशेषकर हठी तथा असाध्य रोग दूर करने के लिए प्रयोग कर न सिर्फ दौलत कमाते थे, वल्कि काफी यश भी कमाते थे। किन्तु मूत्र-चिकित्सक दिवंगत संत जोन डब्ल्यू० आर्मस्ट्रांग साहव ने जव इसका पर्दाफाश किया तव यह कुकृत्य कम हुआ। हमारे देश में भी इसका प्रचलन वढ़ रहा है।

यह अपने विवेक से विचार करने की वात है कि जव एलोपैथी में सभी रोगों को दूर करने की प्रचुर मात्रा में दवाएँ थीं तो सदियों से उपेक्षित तथा घृणित मानव-मूत्र, जिसका सदैव से उनका सभ्य संसार विरोध करता आया है तथा नाम लेते ही मुँह विचकाता है, उसके पान तथा मालिश की तो खिल्ली उड़ाता है, किन्तु उसके सड़े हुए अंश से तैयार की गयी दवाओं को खुलकर सहर्ष ग्रहण करता है और उसके प्रचार-प्रसार में लाखों रुपये खर्च करता है। मानव-मूत्र से निर्मित दवाइयों से दवा-निर्माताओं तथा चिकित्सकों को अर्थ-लाभ भले ही हो, पर अन्य पदार्थों से मिश्रित होने से उसका गुण भी नष्ट हो जाता है।

वड़ी खुशी की वात है कि सदियों वाद अमेरिका और यूरोप आदि सभ्य देशों के वैज्ञानिक और विचारक मानव-मूत्र के सम्वन्ध में अपना घृणात्मक मुखौटा उतारकर अपनी प्रयोगशाला में शोध द्वारा उसे गुणात्मक जामा पहनाकर मानव-कल्याणार्थ गुणग्राही वन गये हैं। उन्होंने शोध द्वारा सिद्ध कर दिया है कि स्व-मूत्र में असाध्य और हठी रोगों को दूर करने की क्षमता है। लाखोंलाख रुपये खर्च कर मूत्र को सड़ाकर उससे (उसके गुणों को नष्ट कर) महँगी दवाओं का निर्माण यह सिद्ध करता है कि वे धनार्जन के लिए दवाओं का निर्माण करना चाहते हैं, जन-हित के लिए नहीं।

प्रयोग की कसौटी पर यह सिद्ध हो गया है कि विना नाड़ी देखे, आला लगाये तथा तस्वीर खिचवाये ताजे मूत्र के प्राशन तथा बासी मूत्र की मालिश से टी० वी० और कैंसर आदि रोग भी दूर हो जाते हैं। रोगी को नीरोग तथा दीर्घायु वनाने का अपरिमित गुण स्व-मूत्र में विद्यमान है। जव निःशुल्क दवा से रोग-मुक्त होने का तत्त्व स्व-मूत्र में विद्यमान है तो उसी रोग पर उसीके सड़े पदार्थ से निर्मित मिलावटी गुणहीन वहुमूल्य दवाइयों और सूइयों द्वारा अस्थायी नीरोग होने के लिए चिकित्सा की क्या आवश्यकता है? हजारों वर्ष तक अंधेरे में भटकते रहने के वाद वैज्ञानिकों को जव प्रकाश मिला है तो उनका प्रथम कर्तव्य है कि वे 'स्व-मूत्र' चिकित्सा के अलौकिक गुणों को जन-जन तक पहुँचाकर 'मूत्र-चिकित्सा' को लोकप्रिय वनायें।

मूत्र-चिकित्सा का उद्‌भव भारतवर्ष में हुआ, किन्तु इस देश से इसकी पद्धतियाँ शनैः-शनैः लुप्त होती गयीं, फिर भी जो भी दुर्लभ साहित्य, विखरी हुई पुस्तकें भण्डारों के कोनों में निर्जीव रूप में पड़ी हुई हैं उनके माध्यम से 'मूत्र-चिकित्सा-पद्धति' सजीव वनायी जा सकती है।

आयुर्वेद-चिकित्सा ने आज अपने अन्तिम चरण में एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति की शरणागत होकर अपना सर्वाङ्गीण विकास अवरुद्ध कर दिया है। एलोपैथी चिकित्सा अपने उत्कर्ष की इस अन्तिम वेला में तोवा वोलकर 'मूत्र-चिकित्सा' की गोद में वैठने के लिए वाध्य हो गयी है। आयुर्वेद-चिकित्सा तथा एलोपैथी-चिकित्सा के मिश्रित अध्ययन से निकले चिकित्सक अपने-अपने रोगियों पर मानव-मूत्र से निर्मित दवाइयों और सूइयों का प्रयोग करेंगे और उन सूइयों और दवाइयों की भूरि-भूरि प्रशंसा भी।

देश के चिंतकों, राजनयिकों, वैज्ञानिकों तथा समाज-सेवियों को इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर गहन अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए, अन्यथा हमारी सारी उपलब्धियाँ अन्यों के यहाँ साक्ष्य एवं साक्षी के अभाव में धरोहर के रूप में रख दी जायँगी।

हमारे लिए अत्यन्त खुशी की वात है कि हजारों वर्ष पूर्व 'मूत्र-चिकित्सा'

को धनलोलुप चिकित्सकों ने चिकित्सा के स्वाश्रयी मार्ग से भटकाकर गौरव का अनुभव तो किया, किन्तु तथाकथित, पूर्ण विकसित एलोपैथी चिकित्सा मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते पुनः 'मूत्र-चिकित्सा' की ओर उन्मुख हो रही है। 'मानव-मूत्र-चिकित्सा' के समर्थकों को चाहिए कि वे इस बात का अहसास करते रहें कि बीसवीं सदी के 'मानव-मूत्र' समर्थक एलोपैथ कहीं मानव-मूत्र का विकृत स्वरूप समाज के समक्ष न रखने पायें। ऐसी स्थिति में हमारा पावन कर्तव्य है कि हम 'मानव-मूत्र' से निर्मित दवा से दौलत की फसल काटने की प्रवृत्ति का भण्डाफोड़ करें तथा भगवान् शंकर द्वारा प्रतिष्ठित विशुद्ध मानव-मूत्र-चिकित्सा के उत्थान के लिए सजग तथा सतर्क रहें, ताकि मानव-मूत्र-चिकित्सा पुनः घरेलू चिकित्सक के रूप में अपना स्थान ग्रहण कर सके।

सगर्व आह्लाद का विषय है कि भारतीय चिकित्सा के आदिकाल में शिवाम्बुकल्प (मूत्र-चिकित्सा) की राह से भटककर हजारों वर्ष बाद पुनः एलोपैथी काल में अम्बुकल्प (मूत्र-चिकित्सा) की सही मंजिल पर पहुँच सका है।

अंत में पाठकों से

स्वमूत्र-चिकित्सा के प्रथम भाग में स्वमूत्र-चिकित्सा-प्रणाली द्वारा हर तरह के साध्य एवं असाध्य रोगों का सफल इलाज करने की निःशुल्क, सरल, सुगम एवं संक्षिप्ति विधि दी गयी है। यदि पाठक दवाइयाँ खाने, सूई लगवाने, फोटो खिचवाने, कार्डियोग्राम लेने, बिजली से सेंक कराने, आला लगवाने, चीर-फाड़ करवाने, अतुल धन-राशि खर्च करने, समय बर्बाद करने, असह्य जीवन बिताने आदि की जहमत से बचना चाहते हैं तो अमृत-तुल्य स्वाश्रयी स्वमूत्र-चिकित्सा को अपनायें।

स्वमूत्र-चिकित्सा

द्वितीय भाग

मानव-मूत्र जीवन-विज्ञान है :१:

स्वमूत्र-चिकित्सा वस्तुतः तत्त्व-चिकित्सा है, जो आकाश-तत्त्व, वायु-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व, जल-तत्त्व एवं पृथ्वी-तत्त्व का एक अनूठा एवं वैज्ञानिक (प्राकृतिक) द्रव्य होने के कारण समस्त रोगों को दूर करने की क्षमता रखता है। शास्त्रों में स्वमूत्र-चिकित्सा को आसुरी चिकित्सा घोषित कर उसे पढ़ने, जानने और करने की इजाजत ही नहीं दी गयी, बल्कि जन-जन के मानस-पटल में मानव-मूत्र के प्रति घृणात्मक, दूषित वातावरण भी पैदा कर दिया गया। फलस्वरूप शनैः-शनैः इस चिकित्सा का लोप होता गया। वास्तव में इसे प्रकृति-उपचार, नैसर्गिक चिकित्सा या स्वाभाविक चिकित्सा कहनी चाहिए। वास्तव में इसका 'जीवन-विज्ञान' नाम सर्वथा उपयुक्त है। वास्तव में स्वमूत्र-चिकित्सा दीर्घायुयुक्त, स्वस्थ एवं आनन्दमय जीवन विताने की कला है, क्योंकि इस विज्ञान में जो नियम, जो पद्धति, जो सिद्धान्त उत्तम स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं वे ही नियम, पद्धति और सिद्धांत रोग होने पर उसके निवारणार्थ भी प्रयोग में लाये जाते हैं। दोनों अवस्थाओं में नियम एक ही होते हैं। नियमानुसार नित्य प्रयोग करते रहने से, मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न रोगों का शमन भी होता रहता है। कदाचित् मिथ्या आहार-विहार से यदि कोई रोग हो भी जाय तो वह प्रभावहीन होता है। इसी उपचार से रोगी पुनः रोग-मुक्त हो जाता है।

यह चिकित्सा-प्रणाली चिकित्सा-प्रणाली ही नहीं है, बल्कि आरोग्य का अमूल्य साधन तथा रहन-सहन का स्वाभाविक ढंग और उस ढंग को सीखने की विधि भी है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को बताना है कि क्या, कब और किस तरह खाना, पीना तथा रहना चाहिए, आहार-विहार

करना चाहिए तथा जीवनोपयोगी कार्यों के प्राकृतिक ढंग क्या हैं। इसके अतिरिक्त यह समझाया जाता है कि जिन पंच तत्त्वों का हमारा शरीर-पुंज है उसके अर्करूपी स्वमूत्र का ही प्रयोग रोगावस्था तथा नीरोगावस्था दोनों में करके अपने जीवन को हम कैसे आनन्दमय, सुखमय, लम्वा तथा सार्थक बना सकते हैं। प्राकृतिक नियमों पर चलकर ही पशु और पक्षी रोग-मुक्त रहते हैं, उनका शरीर वड़ा ही सुन्दर, सुगठित तथा मोहक बना रहता है। वे सर्वदा ही प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों पर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। फलस्वरूप वे कभी बीमार पड़ते ही नहीं। यदि कदाचित् बीमार भी पड़ें तो प्रकृति ही उन्हें ठीक कर लेती है, वे अपनी दवा स्वयं कर लेते हैं, वे उपवास करते हैं और अपना मूत्र पीकर स्वस्थ हो जाते हैं। प्राचीन काल का मानव इन्हीं नियमों पर चलकर नीरोग तथा दीर्घायु होता था। कालान्तर में वैज्ञानिक अन्वेषणों ने मानव को दूषित भेषज-पद्धति की ओर आकृष्ट कर निरंतर रोगी बनाया। रोगी होने पर मनुष्य नाना प्रकार के विजातीय द्रव्यों से निर्मित दवाओं का खुलकर प्रयोग करता है, जिससे उसका शरीर और अस्वस्थ हो जाता है। प्राचीन आयुर्वेद के अनुसार भी किसी रोग का कारण शरीर में मल-संचय से होता है। उसके लिए वह उपवास करने को कहता है, जल पीने को कहता है, जुलाब देने को कहता है, एनिमा देने को कहता है। स्वमूत्र-चिकित्सा में भी स्वमूत्र के साथ उपवास किया जाता है, गरम रखा पानी पिया जाता है, पेट साफ करने के लिए पेडू पर (पेट के नीचे) मूत्र से तर पट्टी रखी जाती है, पुराने मूत्र से मालिश भी की जाती है, मूत्र के साथ एनिमा भी लिया जाता है। इससे तुरत पेट साफ हो जाता है, आँतों में चिपके सूखे मल निकल जाते हैं, शरीर में पड़े सभी विजातीय द्रव्य निकल जाते हैं, रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। स्वमूत्र-चिकित्सा में विशेषता यह है कि एक उभरे रोग की दवा की जाती है, शरीर में डेरा डाले पड़े सभी रोग निकल भागते हैं। कैसा अनूठा, निःशुल्क और सरल चमत्कार है यह।

विश्व की वर्तमान स्थिति में जहाँ वायु, जल, पृथ्वी, शब्द नाना प्रकार

के विदूषणों से विदूषित हो गये हों और मनुष्य आलस्यवश आसन, प्राणायाम, व्यायाम तथा प्रातः टहलना, उठने को गलत तथा शरीर के लिए हानिकर समझता हो, एलोपैथी चिकित्सा की दूषित प्रणाली को ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा-प्रणाली मान लिया हो और अफीमचियों की तरह उसी प्रणाली का आदी हो गया हो तो उस वातावरण को कैसे एक ऐसे वातावरण में बदला जा सकता है, जिसमें मनुष्य नीरोग रह सके और दीर्घायु बन सके।

विश्व में जहाँ भी प्राकृतिक जीवन व्यतीत किया जाता है, बनावटी जीवन से दूर रहा जाता है, वहाँ के सभी प्राणी सदैव नीरोग रहते हैं, उनकी आयु भी लम्बी होती है। मनुष्य तो स्वस्थ पैदा हुआ है। गलत आहार-विहार तथा वातावरण के कारण (माता-पिता या उसके) अस्वस्थ हो जाता है। यदि वह स्वमूत्र-चिकित्सा का पालन, नियमित संतुलित खान-पान तथा रहन-सहन की बचपन से ही आदत डलवाये तो वह बालक सदा सर्वदा स्वस्थ एवं दीर्घायु होगा। स्वमूत्र-चिकित्सा वह पथ है, जिस पर चलकर कोई भी प्राणी जीवन की परिपूर्णता को, जीवन के सच्चे आनन्द को तथा जीवन के ध्येय को प्राप्त करता है।

क्या स्वमूत्र-चिकित्सा ही विशुद्ध आयुर्वेद है ?

ऋषियों के अनुसार आयुर्वेद का अर्थ है आयु का ज्ञान—आयुर्विज्ञान। यानी विज्ञान की वह शाखा, जिसके द्वारा एक स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा हो, रोग-ग्रस्त व्यक्ति को रोग से मुक्ति मिले, आतुरों के कष्टों का तुरत निवारण हो, मनुष्य की आयु लम्बी हो, इसीको ही आयुर्वेद कहते हैं, जिसकी चिकित्सा अनादि, अनन्त और अपौरुषेय हो। यजुर्वेद में मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए 'कैसे जीना चाहिए?' प्रकरण में दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। चरक में 'रोग हो ही न' प्रकरण में बताया गया है कि मनुष्य को इस प्रकार रहना चाहिए, ताकि रोग ही न हो। इसी प्रकार के प्रसंग आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं।

यहाँ आयुर्वेद को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

१. विशुद्ध आयुर्वेद और

२. भेषज आयुर्वेद

रोग का कारण

प्रायः सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थों में बताया गया है कि मिथ्या आहार-विहार से रोग पैदा होते हैं। इसके तीन कारण हैं : (१) अति योग, (२) अयोग और (३) मिथ्या योग से पेट में विजातीय द्रव्यों का लदाव निरन्तर होते रहने से आम संग्रहीत होता रहता है, जो सभी रोगों का कारण होता है।

लक्षण

सभी रोगों का सिर्फ एक ही लक्षण—आँतों में भारीपन लगना, पीलापन दिखाई पड़ना, त्वचावर्ण में कुछ पीलापन, शरीर में हरारत, अंगों का भारीपन, आलस्य का बढ़ना।

चिकित्सा

दोष को दूर कर देना ही चिकित्सा है। विजातीय द्रव्य के लदाव को पैदा न होने देना तथा मूत्र-पानी के साथ उपवास करने से संचित मल का क्षय होता है और रोगाकुल प्राणी स्वस्थ हो जाता है। पथ्य ही दवा है और अपथ्य ही रोग है।

आयुर्वेद ने समस्त सृष्टि को पाँच भौतिक पदार्थों के द्वारा होना निरूपित किया है। वे हैं : पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। अतः आयुर्वेद तथा अन्य वैदिक दर्शनों में मानव के स्वास्थ्य-रक्षण एवं रोगापनयन की जो विधियाँ दर्शायी गयी हैं, उन सभी का सम्बन्ध त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश) एवं त्रिदोष (वात, पित्त और कफ) से निश्चित रूप से हो जाता है।

प्राचीन काल में मनुष्य अपने स्वास्थ्य की रक्षा प्राकृतिक नियमों का पूर्णतः पालन करते हुए करता रहता था। आहार-विहार की गड़बड़ियों से

कदाचित् कोई विकृति पैदा हो गयी तो उसके मूलभूत कारणों की कमी-वेशी को ठीक कर स्वस्थ हो जाता था।

आयुर्वेदिक चिकित्सा तथा स्वमूत्र-चिकित्सा में एकरूपता

१. स्वमूत्र-चिकित्सा का अर्थ है जीवन का तत्त्व-ज्ञान।

२. अपौरुषेय है—मनुष्यकृत नहीं (पंच महाभूत समन्वित है)।

३. दोप-संशोधन ही चिकित्सा है—स्वमूत्र और पानी के साथ लंघन ही दोप-संशोधन है।

४. किसी भी रोग में मूत्र के सिवा किसी भी औषधि का विधान नहीं है।

५. अस्त्र-चिकित्सा का नाममात्र का स्थान नहीं है।

६. पास का ही आरोग्यकारी उपादान है (सर्वत्र प्राप्त, सहज ही प्राप्त, निःशुल्क तथा सर्वसुलभ)।

७. आयुर्वेद के अनुसार पास के ही आरोग्यकारी (उपादान सर्वत्र प्राप्त, सहज प्राप्त, निःशुल्क तथा सर्वसुलभ) पंचभूतों से ओतप्रोत, जो हमारे अस्तित्व के कारण हैं और जिनसे ही हमारा शरीर वना है, के अंश से समस्त रोगों की सफल चिकित्सा ही विशुद्ध आयुर्वेद है। स्वमूत्र-चिकित्सा भी स्वमूत्र को, जो पंच महाभूतों से समन्वित है, आरोग्यकारी उपादान मानता है, अतः इसे विशुद्ध आयुर्वेद कहना चाहिए।

८. अनादि और अनन्त है (यह जीवन को जीने की कला सिखाता है)।

९. शरीरस्थित विजातीय द्रव्य को ही रोग का मूल कारण मानता है।

१०. स्वमूत्र निःशुल्क, सदा, सर्वदा, सर्वत्र उपलब्ध है।

११. स्वमूत्र-चिकित्सा के अनुसार मिथ्या आहार-विहार से पेट में लदाव बढ़ जाता है, जिससे रोगों की उत्पत्ति तथा उनके सुधार से रोगों की निवृत्ति होती है।

१२. समस्त रोगों को दूर करने की मूत्र में पूर्ण क्षमता विद्यमान है।

१३. स्वमूत्र सर्वगुणसम्पन्न, निर्दोष, कृमिघ्न, शोषघ्न, विषघ्न, वातघ्न, पित्तघ्न, रोगघ्न, कफघ्न तथा रसायन है।

१४. स्वमूत्र स्वयं चिकित्सक, निदानकर्ता तथा दवा है। यह पोषक, पाचक तथा रेचक है।

१५. स्वमूत्र-चिकित्सा में नाड़ी देखने, आला लगाने, फोटो खिंचवाने, थर्मामीटर लगाने, बहुत बड़ा चिकित्सालय खोलने तथा नाना प्रकार के उपादान रखने की आवश्यकता नहीं। अंग के किसी भाग में दर्द महसूस होते ही मूत्र-पान, मूत्र-मालिश तथा मूत्रोपवास (शिवाम्बुकल्प) कर दूर किया जाता है।

स्वमूत्र-चिकित्सा के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी तभी प्राप्त होगी, जब वेद, वेदान्त, आयुर्वेद, योग, उपनिषद्, दर्शन, पुराणादि का, जो संस्कृत में हैं, सूक्ष्म अध्ययन करें। सूक्ष्म अध्ययन का तात्पर्य उन सांकेतिक शब्दों, सूत्रों तथा विधियों से है, जिनका प्रयोग विभिन्न काल में विभिन्न प्रकार से होता रहा है और जिनका अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न काल में विभिन्न प्रकार से किया है। फलस्वरूप अर्थ का अनर्थ होता गया। इस देश में सदियों से गुरु-परम्पराएँ कायम हैं। गुरु-परम्पराओं के कारण भी अगूढ़ चिकित्सा नष्ट हुई, क्योंकि किसी विशेष पर्व पर ही गुरु अपने शिष्य को अगूढ़ चिकित्सा की पद्धति बताता था, जड़ी-बूटियों की पहचान करवाता था, जड़ी-बूटियों के प्रयोग से शरीर के किसी अंग को ऊँचा उठाकर (फुलाकर), फिर उसे काटकर अंग-भंग अंग पर जोड़कर ठीक कर देता था। (सैकड़ों वर्ष पूर्व राजा अपनी प्रजा को दण्डस्वरूप नाक-कान आदि अंग काटने की सजा देता था। उस अंग को ये चिकित्सक हूबहू वैसे ही जोड़ देते थे।) अगूढ़ और सांकेतिक शब्दों का अर्थ समझाता था। शिष्य भी गुरु के बताये हुए नियमों पर चलकर अपने शिष्य को उसी प्रकार आचरण करने की सलाह देता था। फलस्वरूप कालान्तर में इस प्रकार की परम्परा नष्ट होती गयी। कुछ एक

वर्ष पूर्व तक योगियों तथा गुरु-परम्परा के साधुओं के अतिरिक्त शिवाम्बु का अर्थ किसीको मालूम नहीं था। सभी भाष्यकारों ने इसका अर्थ कल्याणकारी जल से लगाया था। किन्तु जब योगियों ने 'शिवाम्बु' का अर्थ 'मूत्र' बताया तो लोग स्तब्ध रह गये। 'शिवाम्बु' शब्द अब धीरे-धीरे बोलचाल की भाषा बनता जा रहा है। इसी प्रकार ईसाई-सम्प्रदाय की पवित्र पुस्तक पुरानी बाइबिल के १५वें अध्याय के मैथ्यू ५ के अनुसार आदेश है कि 'ड्रिंक वाटर्स आउट आफ दाइन ओन सिस्टर्न'। बस, इसके बाद कहीं कुछ नहीं है। फिर इसका अर्थ है, आप अपना मूत्र पीयें। नयी बाइबिल (मैथ्यू ६, १७) में 'ह्वेन दाऊ फास्टेस्ट एन्वाइंट दाई हेड एण्ड वाश दाई फेस' उद्धृत है, यानी जब आप उपवास करें तो अपने सिर को मलें और चेहरे को धोयें—इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह हुआ कि जब आप उपवास करें (मूत्रोपवास), तो मूत्र से अपने सिर तथा चेहरे पर मालिश करें।

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण (१४) में है—'अथर्थार्वाडोनमेतास्वेवाऽप्स्वन्विच्छेति' इसका अर्थ है—अब पास ही है, उसे ढूँढ़ो, वह पास ही है। इसका आशय यह है कि रोग होने पर उसकी दवा ढूँढ़ने कहीं दूर न जाओ, अपितु वह पास ही है यानी अमृतरूपी स्वमूत्र आपके पास ही है। यही आपके रोग की दवा है। उसका सेवन कर स्वस्थ जीवन व्यतीत करें। कहा जाता है कि शुक्राचार्य, बृहस्पति तथा अश्विनीकुमारों के पास अमृत तथा संजीवनी थी। प्रश्न उठता है कि यदि अमृत और संजीवनी उनके पास थी तो वे काल-कवलित क्यों हुए? उन्होंने उसका प्रयोग अपने ऊपर क्यों नहीं किया? इसी प्रकार एक पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र-मंथन के बाद भगवान् धन्वंतरि हाथ में अमृत-कलश लिये अवतरित हुए थे, इसीलिए उन्हें 'पीयूष-पाणि' कहा गया है। पहले तो कोई भी व्यक्ति हाथ में अमृत का घड़ा लेकर पैदा नहीं होता। यदि पैदा हुआ तो उसका प्रयोग अवश्य करेगा। अगर धन्वंतरिजी ने उस अमृत का प्रयोग किया तो वे इस असार

संसार को छोड़कर फिर चले क्यों गये ? मेरी दृष्टि में इसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास पीयूष (अमृत) है (पाणि का अर्थ हाथ भी होता है और जल भी । मेरी दृष्टि में यदि पाणि का अर्थ पानी से लिया जाय तो उसका अर्थ होता है अमृतरूपी जल और यदि हाथ से लिया जाय तो अर्थ होता है पास।) यदि उसका प्रयोग वह करता है तो नीरोग रहकर दीर्घजीवी बनता है, क्योंकि सभी ऋषि-महर्षि नीरोग रहकर दीर्घजीवी हुए हैं। वह अमृत क्या है ? 'शिवाम्बु' 'स्वमूत्र'। इसी प्रकार ऋग्वेद ६. ५७. २ के अनुसार "जल से अभिसिंचन करो, जल से उपसिंचन करो, जल सर्वप्रधान औषधि है, इसके सेवन से जीवन सुखमय बनता है और शरीर की अग्नि भी आरोग्यवर्धक होती है।" फिर ऋवेद १०. १३६. ६ के अनुसार "जल ही औषधि है, जल रोगों का दुश्मन है, यह सभी रोगों का नाश करता है, अतः यह तुम्हारा रोग भी नाश करे।" तैत्तिरीय आ० १. १६ में कहा गया है कि "अमृत को देनेवाला जल ही है।" अथर्ववेद ३. ७. ५ के अनुसार "जल ही औषधि है, जल रोग को दूर करता है, जल सब रोगों का संहार करता है, अतः यह जल तुम्हें भी कठिन रोग से छुड़ा ले।" उक्त सूत्रों में यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि कौन-सा जल अमृतवत् गुण रखता है, सभी रोगों को नाश करता है तथा सभी रोगों का दुश्मन है। उक्त सूत्रों के अनुसार रोग-ग्रस्त व्यक्ति अपने रोग-निवारणार्थ जब कभी भी जल के साथ उपवास करता है, जल पीता है, जल से सर्वांग मालिश करता है या स्नान करता है तो उस उपवास-काल में कुछ एक दिन के बाद उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, जीवन-शक्ति घटती जाती है, रोगी निर्बल होने लगता है, बेचैनी पैदा होती है और यदि रोगी मूत्र के साथ उपवास करता है, गरम जल पीता है, सर्वांग मूत्र-मालिश करता है, तो न तो हृदय की धड़कन बढ़ती है, न बेचैनी पैदा होती है, न कमजोरी महसूस होती है, जीवन-शक्ति बढ़ जाती है और रोग मिट जाता है। अतः प्राचीन पुस्तकों में इस प्रकार के अनेक स्थानों पर अनेक गूढ़ सूत्र हैं, जिनका मूल अर्थ कुछ है और सांकेतिक गूढ़

अर्थ कुछ दूसरा है। इनका अध्ययन और सांकेतिक शब्द का आवश्यक अर्थ लगाना आवश्यक हो गया है।

मानव-शरीर में तीन भाग जल होता है। शरीर में निश्चित जल सदैव रहना चाहिए। मल, मूत्र, पसीना आदि के साथ जितना जल शरीर से वाहर निकल जाता है, उसकी पूर्ति भोजन करने तथा जल पीने से होती रहती है। यदि उतने जल की पूर्ति नहीं होती तो शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है, शरीर में विभिन्न प्रकार की विकृतियाँ पैदा होती हैं। जल की पूर्ति हो जाने से मानव-शरीररूपी इंजन का संचालन सुचारु रूप से होता रहता है और शरीर स्वस्थ रहता है। अतः इस दृष्टि से जल शरीर के लिए अमृत है। इसीलिए प्राकृतिक चिकित्सकों ने 'जल-चिकित्सा' से रोग मिटाने की पद्धति वतायी है।

स्वमूत्र जल-तत्त्व का वह परिपक्व कुदरती रस है, जो शरीर का अंश होने से पुनः दवा के रूप में प्रयोग करने से शरीर को रोग-मुक्त करता है। अतः स्वमूत्र-पान जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना वायु। मानव-शरीर पंचभूतों के यौगिक गठन से संचालित होता है, जैसे हम जो जल पीते हैं उससे शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, वल्कि शरीर में स्थित उद्जन और ओषजन के संयोग से प्रतिदिन निरन्तर २९८ ग्राम जल की भी उत्पत्ति होती रहती है तथा अन्य यौगिक परिवर्तन होते रहते हैं। चिन्तकों के अनुसार इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, सूक्ष्म जाँच करने पर उनमें जीवनोपयोगी सभी २४ तत्त्व पाये गये हैं। मिट्टी का टुकड़ा हो या मानव-देह, सभी में २४ जीवन-तत्त्व विद्यमान हैं। उन्हींके यौगिक संगठन से मानव-देह भी गतिमान् है। निम्नलिखित मात्रा में ये २४ तत्त्व मानव-देह में पाये जाते हैं। जैसे :

१. ओषजन—इतना है, जिससे ९००० गैलन गैस वनायी जा सकती है।
२. कार्वन—इतना है, जिससे ९०० पेंसिलें तैयार की जा सकती हैं।
३. उद्जन—इतना है, जिसे गुब्वारे में भरकर पर्वत की सवसे ऊँची चोटी के ऊपर से उड़ाया जा सकता है।

४. नोषजन—७ पौंड, साथ ही ओषजन और उद्जन के मेल से जो जल बनकर एकत्र रहता है वह इतना होता है कि १० गैलन का पीपा भर जाय। इसी प्रकार, ओषजन, उद्जन और कार्बन के मेल से जो चर्बी (वसा) बनती है, वह इतनी होती है कि साबुन की ७ बट्टियाँ तैयार हो सकती हैं।

५. खटिकम्—इतना होता है कि उससे चिड़ियों के बच्चों के एक दरबे की सफेदी की जा सकती है।

६. स्फुर—इतना होता है कि उससे दियासलाई की २२०० तिल्लियों पर मसाला लगाया जा सकता है।

७. लोहम्—इतना होता है कि एक मझोले आकार की एक कील बनायी जा सकती है।

८. नैलन
९. मैंगनीज
१०. शैलम्
११. पांशुजन
१२. सैंधकम्
१३. प्लविन
} थोड़ी मात्रा में

१४. गंधक—इतना है, जितने से एक कुत्ते की सभी किलनियाँ मारी जा सकती हैं।

१५. मैग्नेशियम—इतना है कि एक परिवार के लिए एक वक्त के भोजन के लिए नमक का काम दे सके।

१६. हरिन—थोड़ी मात्रा में।

१७. ताम्रम्
१८. जस्ता
१९. अल्मूनियम
२०. निकेल
} थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं

२१. संखिया
२२. ब्रोमाइड
२३. लिथियम
२४. कोबाल्ट

थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं ।

उक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि हमारा शरीर, हमारा आहार एवं पृथ्वी का कोई अंश, जिससे हमारे खाद्य-पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तीनों एक ही प्रकार के २४ रासायनिक तत्त्वों से बने हैं । इनमें मुख्य मूलतत्त्व ७ ही हैं : (१) प्रत्यामिन, (२) कार्बोज, (३) वसा, (४) स्फोक, (५) जल, (६) खनिज लवण और (७) खाद्योज । उक्त तत्त्वों से बना हमारा शरीर जब असावधानी या अज्ञानता से आवश्यक तत्त्वों की कमी की पूर्ति नहीं कर सकता और वेशी को हम ठीक नहीं कर सकते, तभी हम अस्वस्थ हो जाते हैं । अतः कमी और वेशी का नाम रोग है और संतुलित उपस्थिति का नाम है आरोग्य ।

आज के वातावरण में उचित मात्रा में आहार लेने, शारीरिक व्यायाम करने तथा आवश्यक मनोरंजन की कला का प्रायः लोप हो गया है । अतः आज एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो स्वस्थ हो । क्योंकि हमारा संयम इस प्रकार विगड़ गया है कि जिस चीज की आवश्यकता नहीं या कम आवश्यकता है उसे ठूँस-ठूँसकर खाना, जिसकी विशेष आवश्यकता है उसे नष्ट कर देना या ग्रहण ही न करना । यह विषपान नहीं तो और क्या है ?

शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने से हमारे शरीर के जिन तत्त्वों का ह्रास होता रहता है, उसकी पूर्ति प्रतिदिन आवश्यक आहार, निद्रा तथा विश्राम द्वारा होती रहती है, जिससे हम दीर्घायु तथा नीरोग होते हैं । किन्तु अपनी अज्ञानतावश जब हम उपर्युक्त की पूर्ति दवाओं और सूइयों से करते हैं (जो हमारे शरीर के लिए विजातीय द्रव्य है) तो उससे शरीर निरंतर निर्बल होकर असमय में ही काल-कवलित हो जाता है ।

वैज्ञानिक खोजों ने अब तक किसी ऐसी दवा की खोज नहीं कर पायी है कि जिसके प्रयोग से हमारी ह्रास-शक्ति की पूर्ति हो सके, संतुलन-शक्ति कायम रह सके, जीवन के संचार की गति में अवरोध न पैदा हो। हर प्रकार के रोगी तत्त्वों की आवश्यकता की पूर्ति कर सके तथा वह पूर्ण-रूपेण निर्दोष हो। यह गुण मात्र स्वमूत्र में ही है। अब तक जानकारी के अनुसार स्वमूत्र में भी जीवनोपयोगी २४ तत्त्व आवश्यकतानुसार विद्यमान हैं, अतः यह इस प्रकार का प्रामाणिक रसायन है, जो रोगी शरीर को नीरोग, नीरोगी शरीर को स्वस्थ तथा अल्पायु को दीर्घायु प्रदान करता है।

हमारे शरीर का निर्माण तथा टिका रहना प्रायः लवणों से ही होता है। हमारे खान-पान, रहन-सहन तथा परिश्रम आदि से जिस प्रकार के लवणों की कमी-वेशी होती है उसी प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। हमारी त्वचा, रक्त तथा अस्थि आदि लवण से ओतप्रोत होते हैं। मात्र रक्त में ही चार प्रकार के लवण पाये जाते हैं—सैंधकम्, पांशुजन, क्लोराइड तथा फास्फेट। हमारे मूत्र से भी प्रतिदिन लगभग १०० रत्ती नमक निकल जाता है। वह हमारे प्रतिदिन का खाया हुआ नमक ही होता है, जिसकी हमारे शरीर को कोई आवश्यकता नहीं होती। यह शरीर के लिए विजातीय द्रव्य सिद्ध है, किन्तु दवा के रूप में तथा भोजन आदि में जो वाहरी नमक हम खाते हैं उसकी हमारे शरीर में कोई उपयोगिता नहीं होती, अतः इसका निष्करण आवश्यक है।

जो आहार हम ग्रहण करते हैं उनसे तथा शरीर की यौगिक क्रियाओं द्वारा करीव २४ खनिज लवण हमारे शरीर में विद्यमान रहते हैं। इन्हीं खनिज लवणों द्वारा हमारे शरीर के अगणित कोषाणुओं का निरंतर निर्माण तथा पोषण होता रहता है। हमारे शरीर में निम्नलिखित मात्रा में खनिज लवण विद्यमान रहते हैं। वे सभी लवण मूत्र में भी पाये जाते हैं :

१. खटिकम्	२२ प्रतिशत	१३. ताम्रम्	थोड़ी मात्रा में
२. स्फुर	१ ,,	१४. जस्ता	,,
३. लोहम्	०·००४ ,,	१५. अल्मूनियम	,,
४. पांशुजन	०·३५ ,,	१६. निकेल	,,
५. सैंधकम्	०·१५ ,,	१७. संखिया	,,
६. गंधकम्	०·२५ ,,	१८. ब्रोमाइल	,,
७. मैग्नेशियन	०·०५ ,,	१९. लीचियम	,,
८. हरिन	०·२२ ,,	२०. कोबाल्ट	,,
९. नैलिन	थोड़ी मात्रा में	२१. ओषजन	६५ प्रतिशत
१०. मैंगनीज	,,	२२. कार्बन	१८ ,,
११. शैलम्	,,	२३. उद्जन	१० ,,
१२. प्लाविन	,,	२४. नत्रजन	३ ,,

इन लवणों में कुछ क्षारोत्पादक होते हैं और कुछ अम्लोत्पादक। इनका काम है हमारे शरीर के रक्त में अम्लत्व और क्षारत्व सम रखें। इन सभी लवणों का संतुलन रहने से ही खाये हुए अन्न का पाचन एवं शरीर का पोषण ठीक से होता है, अन्यथा हमारा शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। इन लवणों का कार्य है पाचन को सुधारना, रोगों से मुक्त करना, अस्थियों, स्नायु-तन्तुओं एवं नाड़ी-केन्द्रों का गठन करना, रक्त-कणिकाओं की सृष्टि एवं पुष्टि करना, भोजन को स्वादिष्ट बनाना, शारीरिक शक्ति को बढ़ाना, मुख की लाल ग्रंथियों से लार उत्पन्न करके आहार के चर्वण में सहायता देना तथा आमाशय के पाचन-रस में अम्लांश को उत्पन्न करना आदि। इन्हीं लवणों के प्रभाव से शरीरस्थित कफादि द्रव होकर निकलते हैं, मल, मूत्र, पसीना आदि निकलने में सहायक होते हैं, वायु-विकार से हमारी रक्षा करते हैं।

जीवन-शक्ति

'जीवन-शक्ति' के सम्बन्ध में जितने भी तथ्य जब कभी भी उपस्थित किये गये हैं, वे सभी तथ्य से परे दीख पड़े हैं। आधुनिक वैज्ञानिक बरसों से यही

बताते रहे हैं कि हृदय-कपाट तथा फुफ्फुस पंप है, किन्तु अब उसके विपरीत बोलने लगे हैं।

सत्य क्या है?

शरीर-इंजन वायु की गैस का स्वचालित इंजन है, जिसका अस्थियों के अलावा सारा भाग रबर की तरह स्थिति, स्थापक और स्पंज जैसे पदार्थ से बना है, जिसे मांस और तंतु कहते हैं। दूसरी बात यह है कि इसका काम वायु के दबाव के द्वारा काम करनेवाले पंप का है और अन्दर स्वतः क्रमबद्ध तरल पदार्थों, रक्त और रसों का संचालन होता रहता है। मानव-शरीर श्वास के जरिये वायु-भार के ग्रहण और उसके द्वारा निरंतर होनेवाले रासायनिक परिवर्तन हो जाने पर उस वायु और शरीर के अन्दर के अवकाश पर पड़नेवाले बाहरी प्रतिवायु-भार के निष्कासन द्वारा आप ही-आप कार्य करता रहता है, यही मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण 'जीवन-शक्ति' है, जो आपको जीवित रखती है। वायु के अभाव में आप पाँच मिनट भी नहीं जी सकते। इन तथ्यों का रहस्य यह जान पड़ता है कि यह सरलतापूर्वक और वायुमंडल के भार के जरिये आप-ही-आप कार्य करता है, क्योंकि मानव-इंजन का निर्माण ऐसे पदार्थ से हुआ है, जो स्थित, स्थापक, स्पंज जैसा और जो तनाव लाने, कंपन-प्रसारण और आकुंचन की शक्ति से युक्त है। इससे स्पष्ट है कि श्वसन-कार्य ही जीवन है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि आप शारीरिक और श्वास-सम्बन्धी व्यायाम के द्वारा जीवन-शक्ति और स्वास्थ्य उन्नत कर सकते हैं। प्राणायाम तथा शारीरिक व्यायाम की दैनंदिनी में सम्मिलित करने से जीवन-शक्ति बढ़ती है।

देखा गया है कि रोग-मुक्ति के लिए बाहरी दवाओं के प्रयोग से रोग तो घटता है, किन्तु उससे जीवन-शक्ति, विशेषकर फुफ्फुस, यकृत तथा वृक्कों की शक्ति में ह्रास होता है। अतः अस्वस्थ शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ऐसा उपचार करना चाहिए, जिससे शरीर स्वस्थ हो जाय और उसके किसी भी शक्ति का रंचमात्र भी ह्रास न हो, बल्कि उसमें वृद्धि ही वृद्धि हो। वह है

एकमात्र स्वमूत्रोपचार। स्वमूत्रोपचार के द्वारा जीवन-शक्ति बढ़ती है, फुप्फुस, यकृत और वृक्कों की भी शक्ति बढ़ती है। अतः हमें यह देखना है कि शरीररूपी इंजन को लम्बी अवधि तक चलाते रहने के लिए कौन-से खाद्य-पदार्थ हितकर हैं ? कौन से नियम हितकर हैं ? कौन-से पदार्थ रुग्णावस्था तथा वृद्धावस्था लाने के बुनियादी कारण हैं ? कौन-सी जीवनचर्या हमारे स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन के लिए हितकर है ? इसके सम्बन्ध में बाल्यावस्था से ही बच्चों को व्यावहारिक ज्ञान कराना चाहिए। आज का विद्यालयीय ज्ञान कक्षोत्तीर्ण के अतिरिक्त शून्य-ज्ञान सिद्ध हो चुका है।

आज का वैज्ञानिक यह भी सिद्ध नहीं कर सका है कि हमारा आहार शाकाहारी हो या मांसाहारी। दोनों प्रकार के आहारी इस जगत् में हजारों वरसों से रह रहे हैं। यदि कोई आहार मानव-जाति के विनाश का कारण सिद्ध हो रहा है तो उसे अनुभव की कसौटी पर सिद्ध कर व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि करनी चाहिए। आधुनिक काल में मांसाहारियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो ी जाती है। उसका मुख्य कारण है कि आज का चिकित्सक मांसाहारी आहार लेने की सलाह देता है, किन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि फल और शाक आदि मानव-देह के लिए उपयुक्त और फलदायक आहार हैं।

●

मूत्र का यौगिक संगठन : २ :

मूत्र का नाम

संस्कृत में—मूत्रं, स्रवणं, प्रस्रवणं, मेहनं, लघुशंका, शिवाम्बु, शरीराम्बु, लिंगाम्बु, अमृताम्बु।

हिन्दी में—मूत्र, पेशाब, पेसाब, मूत।

फारसी में—पेशाब, कारूरह, बौल।

बंगला में—मूत्र, चोना, पेशाब।

मराठी में—मूत, मूत्र।

गुजराती में—मुता।

कन्नड़ में—आफल, गोत, उच्ची, मूत्र।

तेलगू में—उच्चा।

अंग्रेजी में—यूरिन।

लैटिन में—यूरिना।

मूत्र-परिचय

आयुर्वेद में आठ प्रकार के शाकाहारी जानवरों के मूत्रों की चिकित्सा के लिए वर्णन मिलता है। इनको मूत्राष्टक कहते हैं। कहीं-कहीं हिरणी के मूत्र का भी वर्णन मिलता है। जानवरों में चार पुल्लिग (१) हाथी, (२) घोड़ा, (३) गदहा, (४) ऊँट और ४ स्त्रीलिंग (१) गाय, (२) भैंस, (३) बकरी, (४) भेंड़ हैं।

मूत्र का स्वरूप

प्राकृत मूत्र लोहित-पीतवर्ण होता है। मूत्र में यूरोबिलिन, यूरोएरिथ्रिन तथा मुख्यतः यूरोक्रोम होता है। उक्त पदार्थों के कारण मूत्र का वर्ण लोहित होता है। इसके अतिरिक्त मूत्र में अन्य वर्ण भी पाये जाते हैं :

१. वर्णहीन—अत्यधिक मूत्र की मात्रा से।

२. सान्द्रपीत से कपिश रक्त—सान्द्रमूत्र में।

३. श्वेताभ और दुग्धाभ—पूय या स्नेह-कणों की उपस्थिति में।

४. धूमाभ या कपिश कृष्ण—रक्त की उपस्थिति में।

५. नारंगवर्ण—सेन्ट्रोमीन के कारण।

६. हरित या हरित नीलवर्ण—मेथिलिन ब्ल्यू के कारण।

७. हरित कपिश रक्तवर्ण—कार्बोलिक अम्ल के कारण।

मूत्र की पारदर्शकता

प्राकृत मूत्र बिल्कुल साफ और पारदर्शक होता है, कुछ एक देर रखने पर फास्फेट के अवक्षेप से गँदला हो जाता है, जो अम्ल मिलने से दूर हो जाता

है। यूरिया के विघटन से मूत्र में अमोनिया की गंध आती है और वह गंदा हो जाता है। मूत्र की मलिनता पूय तथा अन्य वैकारिक अवस्थाओं के कारण होती है। ग्रीष्म ऋतु में मूत्र का घनत्व बढ़ जाने के कारण इसका रंग लालिमायुक्त पीला-सा दिखाई देता है, किन्तु शीत ऋतु में प्रायः हलका सफेद रंग का होता है।

वक्तव्य

मूत्र प्रायः अम्लयुक्त होता है, क्योंकि मूत्र में अम्ल लवणों, विशेषतः एसिड सोडियम फास्फेट की उपस्थिति है। मूत्र का स्वरूप समय तथा भोजन के अनुसार परिवर्तित होता रहना है। मांसाहार से अम्ल हो जाता है, क्योंकि मांस में गंधक और स्फुटिक ओषजनीकरण से गंधकाम्ल स्फुटकाम्ल में बदल जाता है। शाकाहार से मूत्र क्षारीय हो जाता है, क्योंकि साग के सेन्द्रीय लवण, साइट्रेट, टाइट्रेट आदि ओषजनीकरण से क्षारीय कार्बोनेट के लिए उपादेय है। यदि वास्तव में अम्ल शरीर में रह जाय तो रक्त के क्षारकोष की समाप्ति हो सकती है। मूत्र की अम्लता प्रातः सर्वाधिक होती है। भोजन के कुछ घंटे बाद मूत्र क्षारीय हो जाता है।

मूत्र का गुरुत्व

स्वस्थ जीवनधारियों के मूत्र का गुरुत्व १.०१० से १.०२५ रहता है। निम्नलिखित अवस्था में अधिक भी होता है :

१. जलपान करने के १२ घंटे बाद।

२. अत्यधिक स्वेदन।

३. मूत्र की मात्रा कम होने से।

निम्नलिखित अवस्थाओं में कम होता है :

१. अधिक जलपान करने से।

२. मूत्र की मात्रा अधिक होने से।

३. जब वृक्क की उत्सर्ग-शक्ति घट जाती है।

शर्करा और यूरिया का महत्त्व

मूत्र के भार को कमोवेश करनेवाले दो पदार्थ मुख्य माने गये हैं : (१) शर्करा और (२) यूरिया । शर्करा की अधिकता से मूत्र का भार बढ़ता है । यूरिया की अधिकता से मूत्र-भार कम होता है ।

मूत्र का स्वाद

खारा, खट्टा, कसैला, कडुआ एवं तीक्ष्ण होता है । स्वस्थ मनुष्य का मूत्र जल की तरह स्वादहीन होता है ।

मूत्र का गुण

लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, खारा, रक्त-विकारनाशक, खुजली और पीवनष्ट-कारक, सेवन करने से रसायन ।

रस—कटु और लवण ।

विपाक—कटु ।

वीर्य—उष्ण ।

मूत्र के कर्म

१. दोषकर्म—यह कफ-वातशामक तथा पित्त-संशोधक है ।
२. संस्थानिक कर्म (बाह्य)—यह शोथहर, वेदना-स्थापन, विषघ्न तथा लेखन है ।
३. संस्थानिक कर्म (आभ्यंतर)—दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृत-उत्तेजक और कृमिघ्न है ।
४. रक्तवह संस्थान—हृद्य, रक्तशोधक, रक्तवर्धक तथा शोथहर है ।
५. प्रजनन संस्थान—आर्तवजनन है ।
६. मूत्रवह संस्थान—इससे मूत्र का परिमाण वहुत वढ़ता है ।
७. त्वचा—कुष्ठघ्न है ।
८. तापकर्म—ज्वरघ्न है ।
९. सात्मीकरण—लेखन तथा विषघ्न है ।

मूत्र का रासायनिक संगठन

मूत्र के रासायनिक संगठन में विद्यमान द्रव्यों की शक्ति के कारण ही मूत्र-प्रयोग से अनेक प्रकार के (प्रायः सभी) रोग नष्ट हो जाते हैं।

मूत्र क्या है ?

शरीर में अनेक रस-ग्रन्थियाँ होती हैं। उनमें से निरन्तर अनेक प्रकार के रसों का स्राव होता रहता है। उन्हें हारमोन्स कहते हैं। यह रस रक्त-मिश्रित होता है। यह रस वृक्कों द्वारा छनकर मूत्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

मानव-शरीर में ही उसके साध्य या असाध्य रोगों को मिटानेवाला पदार्थ मौजूद है। वह पदार्थ है 'स्वमूत्र'।

स्वमूत्र वास्तव में क्या है ? इसकी रचना क्या है ? उसमें उपलब्ध पदार्थ क्या-क्या और किस-किस मात्रा में हैं ? ये पदार्थ आरोग्य के लिए हितकर हैं या अहितकर ? स्वमूत्र में ये पदार्थ कैसे आते हैं ? इनकी उपयोगिता क्या और कैसे है ? आदि प्रश्नों के उत्तर पक्ष और विपक्ष में व्यक्त किये गये हैं। उनके विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया है कि 'स्वमूत्र' अपने शरीर का मल नहीं है, अतः इंग्लैण्ड के डॉक्टर फेरोन ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन ऑफ बायोकेमिस्ट्री' में मानव-मूत्र में पाये जानेवाले क्षारों के औसत प्रमाण दिये गये हैं और जिनका उल्लेख प्रथम भाग में किया जा चुका है। उसके अनुसार ये सभी क्षार शरीर में पुनः प्रविष्ट कराने से रोगग्रस्त शरीर में जमे हुए विषाक्त अम्लों का शोषण हो जाता है, जिससे अम्लों द्वारा पैदा होनेवाले रोगों की उत्पत्ति के मूल कारणों को कुशलतापूर्वक, सरलतापूर्वक तथा बिना कोई विकृति पैदा किये ही मिटा देता है।

प्रोफेसर जी० न० रास्टेंड के अनुसार कुछ अन्तःस्राव वृक्कों (गुरदों) से छनकर मूत्र-मार्ग द्वारा बाहर निकलते पाये गये हैं। (१) मल्टियल हाइपोफिजिकल हार्मोन्स, (२) एड्रिनल हार्मोन्स एवं (३) सैक्सुअल

(प्रजनन) ग्रंथियों से स्रवित अन्तःस्राव मानव-मूत्र में पाये जाते हैं। अन्तःस्राव तथा मूत्र के पारस्परिक इस अनुबंध ने दूरगामी परिणामों की संभावना व्यक्त की है। वास्तव में मूत्र देह के बुनियादी पदार्थों की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। चिकित्सा की दृष्टि से मानव-शरीर तंत्र पर विशेष प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ ऐसे इन अन्तःस्रावों के उपयोग का अन्वेषण आवश्यक एवं सम्भव बन चुका है। भारतीय ऋषियों के अनुसार भी तालु से अमृतरूपी पदार्थ निरंतर झरता रहता है, जिसे योगी योग द्वारा आत्मसिद्धि के लिए अपनी नाभि में एकत्र कर चमत्कारिक महापुरुष बन जाता है तथा सदैव नीरोग तथा दीर्घजीवी बनता जाता है। तालु से स्रवित इस अमृतपान के लिए वह तालु से उल्टी जीभ के अग्रभाग से शोषण की साह देता है। इसके शोध की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य के सर्वमान्य सिद्धान्तानुसार स्वमूत्र-चिकित्सा का मुख्य आधार पथ्य (परहेज) व्यवस्था एवं नियमित जीवन-यापन की दृढ़ता है। रोग-प्रतिकार तथा रोग-निवारण के लिए यह पद्धति स्वयंपूर्ण चिकित्सा-पद्धति है।

स्वास्थ्य को स्वस्थ रखने के लिए जिन-जिन तत्त्वों की जिन-जिन मात्रा में शरीर को आवश्यकता महसूस होती है उन कमियों को, जिनके कारण रोग होते रहते हैं, स्वमूत्र पूर्ण करता है।

(१) स्वमूत्र मुख से प्रवेश कर रक्तवाहिनियों द्वारा बहनेवाले रक्त की उन कमियों को पूर्ण करता है, जिनके कारण रोग होते हैं।

(२) अवयवों में होनेवाले विपरीत प्रभाव को नियंत्रित कर अवयवों को सही दिशा प्रदान करता है।

(३) कोशिकाओं के निर्माण में सहायता करता है, कोशिकाओं के क्षीण होने की संभावनाओं को न्यून करता है, जिससे कोशिकाएँ इसके प्रभाव से गतिशील रहती हैं। उनके सिकुड़ने, फैलने तथा हरकत करने में शक्तिसम्पन्न रहती हैं।

(४) जो कुछ खाया-पीया जाता है उसीका रस बनता है। वही रस रक्त द्वारा करोड़ों कोशिकाओं तक पहुँचता है और वे आवश्यकतानुसार उसे चूसकर सजीव बनती रहती हैं। शेष की, जिसे उन्हें आवश्यकता नहीं है, उसे छोड़ देते हैं। वे बचे हुए सजीव द्रव्य मूत्र में पाये जाते हैं। उनका नित्य प्रयोग करने से शरीर को कमीवाला द्रव्य मिलता रहता है, जिसे जज्ब कर शरीर स्वस्थ रहता है।

इस प्रदूषण-युक्त जगत् में मानव-मूत्र ही प्रदूषण-मुक्त है : ३ :

मानव के सतत प्रयास ने अपनी सुख-समृद्धि की वृद्धि में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। उन सफलताओं में दूरगामी परिणामों की ओर ध्यान न दिये जाने के कारण मानवीय उपलब्धियों से उत्पन्न 'प्रदूषण विभीषिका' जीवमात्र के लिए संहारक सिद्ध हो रही है। इसने जीव के अस्तित्व, पृथ्वी के अस्तित्व तथा अन्यावश्यक वस्तुओं के अस्तित्व को सर्वनाश करने की चुनौती दे डाली है। विकास के दौर में जो देश जितना ही ज्यादा विकसित हो पाये हैं या हो रहे हैं, उनके समक्ष अस्तित्व-संहार की उतनी ही बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई है। इस प्रदूषण-युक्त जगत् में उत्पन्न नाना प्रकार की जटिल समस्याओं का समाधान यदि न किया गया तो शायद यह पृथ्वी ही जीव-विहीन या अस्तित्वविहीन हो जाय।

सर्वत्र ही कल-कारखानों की बाढ़ से 'परमाणु विभीषिका' प्रस्तुत है। वातावरण, जलवायु, आकाश, पृथ्वी में विषाक्तता जिस तेजी से बढ़ रही है, उससे अनुमान है कि मनुष्य वायु, जल, पृथ्वी और शब्द की विषाक्तता से घुल-घुलकर मर न जाय। विशेषज्ञों के अनुसार प्रकृति-प्रकोपों तथा महायुद्धों से भी भयंकर क्षति मानव-जाति को इस बढ़ते प्रदूषण से उठानी पड़ेगी। उसके घुटन से जीव-जगत, विशेषकर मानव-जाति, स्वतः नष्ट हो जायगी।

इन जटिल समस्याओं से समस्त विकसित देश पूर्ण परिचित हैं, पर विकास के मद में चूर वे इसका हल मंथर गति से ढूंढ़ रहे हैं।

इन प्रदूषणों से नित नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं, फेफड़ा, सिर, आँख, गले के ऐसे रोग पैदा हो रहे हैं, जिनका निदान करना भी कठिन हो गया है। इससे अन्यान्य जीव भी प्रभावित हो रहे हैं, खाद्यान्न तथा जल से भी पौष्टिक तत्त्व नष्ट हो रहे हैं। इनसे मनोरोग, अनिद्रा, तनाव, सिर-दर्द, थकान, उत्तेजना, पागलपन आदि रोगों की अभिवृद्धि हो रही है। इसका बुरा प्रभाव जलचर, नभचर तथा थलचर पर भी पड़ रहा है। आगरा के ताजमहल और अन्यान्य गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। सारी मानवता स्वतः के अर्जित विज्ञान की उपलब्धियों की प्रतिक्रियाओं द्वारा मौत की बाट जोह रही है। इस प्रदूषण का सबसे बड़ा शिकार जापान हुआ है, क्योंकि वहाँ औद्योगिक उपलब्धियों के कारण मात्र वाहनों की संख्या आठ गुनी से ज्यादा हुई है। वहाँ दमा, लकवा, पागलपन से ग्रस्त रोगी बच्चे पैदा हो रहे हैं। वर्तमान जनगणना के अनुसार वहाँ के हजारों बच्चे सिर-दर्द, आँख की जलन, हाथ-पैरों की अकड़न जैसे रोगों से ग्रस्त हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार इसका मुख्य कारण 'प्रदूषण' से वायु में कार्बन मोनोआक्साइड का सामान्य से १० गुने से ज्यादा बढ़ जाना हैं, क्योंकि कारखानों से निकली सल्फर डाइआक्साइड बच्चों के विकास में घातक सिद्ध हो रही है। विकसित राष्ट्र इसे रोकने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु भारत जैसे विकासमान देशों के जल, हवा, पृथ्वी, आकाश तथा शब्द विषाक्त प्रदूषण से निरंतर घिरते जा रहे हैं। साधनहीनता के कारण अभी इससे छुटकारा पाने के उपक्रम की शुरुआत भी नहीं हुई है। इस जटिल समस्या का समाधान कब और कैसे होगा, विचारणीय विषय है।

मानव-जाति पर एलोपैथिक दवाओं का घातक प्रहार

जिस प्रकार सारी मानवता प्रदूषण की विषाक्तता से घातक रोगों का शिकार हो रही है, उसी प्रकार एलोपैथी चिकित्सा, जिसे आधुनिक (वैज्ञानिक)

चिकित्सा कहते हैं, के वैज्ञानिकों द्वारा प्रदूषित वस्तुओं से निर्मित इन प्रदूषित दवाओं और सूइयों का मानव मात्र पर घातक प्रभाव पड़ रहा है, जिसकी कल्पनामात्र से हृदय विदीर्ण हो जाता है। कहा जाता है कि कभी चीन देश की जनता को अंग्रेजों ने सर्वप्रथम मुफ्त में अफीम खिलाकर पहले अफीमची बनाया था, तत्पश्चात् अफीम का मूल्य काफी बढ़ाकर उनका खूब शोषण और दोहन किया था। किन्तु ज्यों ही चीन को इसका एहसास हुआ और चीन ने अपनी इस आदत को छोड़ा, उसके बाद ही वह पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। उसी प्रकार विश्व के प्रायः सभी विकसित देशों में एलोपैथी प्रणाली की चिकित्सा प्रचलित है। उसे सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा की मान्यता प्रदान की गयी है। उसकी प्रगति के लिए अरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। उनकी देखादेखी विकासमान देशों में भी अपने-अपने देश की प्राचीन स्वदेशी चिकित्सा-प्रणाली को उपेक्षित कर एलोपैथी चिकित्सा-प्रणाली को 'राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति' की गद्दी पर बैठाकर प्राचीन स्वदेशी चिकित्सा-प्रणाली की निरंतर कब्र खोदी जा रही है, उसकी उपेक्षा की जा रही है। सर्वदेशीय सरकारों की तरफ से अरबों-अरब रुपये जन-जन के मानस को एलोपैथीमय बनाने में प्रचारार्थ खर्च किये जा रहे हैं तथा उनकी दवाओं के उत्पादन तथा उद्भव में भी प्रचुर सहायताएँ प्रदान की जा रही हैं। उनकी तुलना में प्राचीन चिकित्सा-पद्धति को दी जानेवाली सहायताएँ काफी न्यून हैं। प्राचीन चिकित्सा के महारथी भी एलोपैथी की धूल चाटने तथा उसकी चाटुकारिता करने में व्यस्त हैं। भारत में भी आयुर्वेदिक शिक्षा में एलोपैथी शिक्षा का समावेश कर आयुर्वेद की गरिमा को मिट्टी में मिला दिया गया है। उत्तीर्ण स्नातक वैद्य के स्थान पर डॉक्टर कहलवाना अपनी शान समझने लगे हैं तथा रोगी को आयुर्वेदिक चिकित्सा के स्थान पर एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति की दवा को प्राथमिकता देकर दौलत की फसल काटने में विशेष महत्त्व समझने लगे हैं। फलस्वरूप प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति का निरंतर लोप होता जा रहा है।

आज विश्व के समक्ष एक जटिल और महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित

है कि एक तरफ देशी दवाओं का लोप और दूसरी तरफ बहुचर्चित और शासन-समर्थित एलोपैथी चिकित्सा की प्रतिक्रियाओं से व्याकुल रोगाकुलों की कराह से कैसे मुक्ति मिले ? विचारक चिन्ताग्रस्त हैं। आधुनिक चिकित्सा के प्रभाव से प्रभावित जनमानस चीन के अफीमचियों की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ की स्थिति में पड़ा है। वह अब किसकी शरण में जाय, दयनीय समस्या है ! इनकी गति साँप-छछूँदर जैसी हो गयी है। एलोपैथी चिकित्सा चिकित्सकीय धरातल से अपनी ख्याति निरन्तर नष्ट करती जा रही है। एलोपैथी चिकित्सा का विकल्प ढूँढ़ा जाने लगा है।

निम्नलिखित उदाहरणों से पाठकों को वस्तुस्थिति का ज्ञान सम्भव है :

जर्मनी—सन् १९७० में जर्मनी की एक औषधि-निर्माणशाला ने प्रगाढ़ नींद के लिए 'थैलिडोमाइल' नामक दवा का निर्माण किया और विज्ञापित किया कि मात्रा से विशेष गोली यदि ले ली जायगी तब भी शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। (जब कि इस प्रकार की अन्य दवाओं की विशेष मात्रा के प्रयोग से बुरा प्रभाव पड़ता है।) लगभग पचास-पचपन देशों में करोड़ों-करोड़ टिकियों का प्रयोग किया गया। सिर्फ जर्मनी में पन्द्रह करोड़ गोलियों का प्रयोग प्रतिमास होने लगा।

प्रभाव—जिन स्त्रियों ने इसका सेवन किया था उनके बच्चे विकलांग पैदा होने लगे। जाँचकर्ताओं ने बताया कि 'थैलिडोमाइल' में व्यवहृत ग्लेटोनिक एसिड के कारण ऐसा हुआ है।

अमेरिका-फ्रांस—इसी प्रकार अमेरिका में 'डाइएथीलिन ग्लाइकोज' और फ्रान्स में 'डाईआइडोएथिल' के प्रयोग के कारण सैकड़ों व्यक्ति काल-कवलित हो गये।

सेनफ्रांसिस्को—कुछ एक वर्ष पूर्व विश्वव्यापी फ्लू से आक्रान्त जगत् के त्राण के लिए फ्लू-निरोधक टीका का ईजाद हुआ। मानव-देह पर इसे लगाया गया। फ्लू तो रुक गया, पर अन्य घातक रोग पैदा हो गये। सेन-

फ्रांसिस्को के शरीर-शास्त्रियों में डॉ० रानजन ने घोषित किया कि जितने लोग फ्लू से मरेंगे उससे ज्यादा लोग इस टीके से छटपटाकर मरेंगे।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की औषधियाँ बीमारी के कीटाणुओं को तुरत मारने के साथ-साथ जीवनरक्षक स्वस्थ कणों को भी समान रूप से मारती हैं। इन दवाओं के परिणामों से ज्ञात होता है कि पुराना रोग चला गया है और नया घातक रोग पैदा हो गया है। इस उपचार से क्या लाभ हुआ? रोग तो गया नहीं, दूसरा नया उससे घातक रोग पैदा हो गया। इन्हीं आधारों पर नित नये-नये कैपसूल, सूई आदि निकल रही हैं। क्या इन औषधियों से रोगी को लाभ हुआ? नहीं! नहीं! लाभ तो हुआ औषधि-निर्माताओं को, औषधि-विक्रेताओं को तथा चिकित्सकों को और घाटा लगता है रोगी को, उनका धन भी व्यय होता है, समय भी नष्ट होता है और रोग भी विरासत में मिलता रहता है। पूर्ण उपचार की प्रत्याशा में रोगी नयी-नयी दवाओं तथा उपचारों में उलझता चला जा रहा है।

बी० सी० जी० का टीका

तपेदिक रोग के बचाव के लिए बी० सी० जी० के टीके का धुआँधार प्रयोग हो रहा है। इंग्लैंड के डॉ० के० नोविल आदि के अनुसार इस टीके से यह रोग सन्दिग्ध रहा है। इस टीके के कारण ही कितनों को गाँठें उभरना, घाव हो जाना, भीतरी फोड़ा निकलना जैसी दुःखद प्रतिक्रियाएँ देखी जा रही हैं।

चेचक के टीके

चेचक के टीके के सम्बन्ध में भी डॉ० नोविल ने लिखा है कि यह कोई गारण्टी नहीं है कि टीके के बाद चेचक न निकले और कोई विपरीत प्रतिक्रिया न हो।

एस्पिरिन और पेन्सिलिन

ब्रिटिश मेडिकल असोसिएशन ने इनके अन्धाधुन्ध प्रयोग पर चिन्ता व्यक्त की है तथा उसके एक विशेषज्ञ डॉ० एचिन्स ने एलोपैथिक दवाओं के

हानिकारक परिणामों की विशद चर्चा करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि नये-नये नामों से नित निकलनेवाली इन अवांछनीय दवाओं के निर्माण को रोकने के लिए सरकार की तरफ से कोई ठोस प्रयास क्यों नहीं किया जा रहा है।

ब्रिटिश मेडिकल जरनल में एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक के अनुभव के अनुसार टेट्रासार-क्लिनवर्ग की एँटीवायोटिक दवाओं के प्रयोग से एक बार कुछ रोगियों की जीभ पर बाल उग आये। इस प्रकार के अन्य उपद्रव भी वांछित हैं।

डॉक्टरी पत्रिका लान्स्ट में लिखा था कि एक किसान ने अपनी गाय को रोगमुक्त करने के लिए दो वर्ष तक लगातार पेन्सिलीन की सूई दी। फलस्वरूप दुग्ध पीनेवाले चर्म-रोग के शिकार हो गये।

पोलियो-निरोधक टीका—कनाडा में १८ हजार वन्दरों, घोड़ों, चिम्पैजियों तथा मुर्गियों के वच्चों पर टीका का प्रयोग किया गया। परिणाम कुछ न निकला। उन्हें मौत के मुख में जाना पड़ा।

फिलाडेल्फिया के डॉ० रॉबर्ट वाइज के अनुसार सल्फाड्रग और एन्टीवायोटिक दवाओं से साधारण श्रेणी के कीटाणु ही नष्ट होते हैं और उससे खतरनाक कीड़े उत्तेजित हो वलवान् होकर विशेष हानि पहुँचाते हैं।

डॉ० मोलिविन कीथ की पुस्तक 'नरक जाने का सीधा रास्ता' में कहा गया है कि इन दवाओं के वातावरण में हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी अधिक अविकसित, अन्धी, गूँगी, बहरी, नपुंसक और विकृत मस्तिष्क की सन्तानें पैदा करते चले जा रहे हैं। इस क्रम से आज की सन्तानों और १०० वर्ष के वाद की सन्तानों में वड़ा अन्तर होगा। अतः हमें खान-पान तथा चिकित्सा आदि के सम्वन्ध में सतर्क रहना चाहिए।

अन्य दवाओं की प्रतिक्रियाएँ

उपर्युक्त दवाओं की तरह ही फेब्रीनम्, पेप्सीना, वेलाटा ओरिन्टीस, एड्रेडोलिन, बेरिन, एक्स्ट्रैक्ट (आर), एक्स्ट्रैक्ट थाईगाइड, टेस्टीकाइड,

स्पाइनल एक्स्ट्रैक्ट, एक्स्ट्रैक्ट म्यूक्सल्यूरसेटनेस, पेचोटरी पेस्टलुवे, आरजी-टेक, माइलिन, अस्परमीन आदि की भी प्रतिक्रियाएँ खतरनाक सिद्ध हुई हैं। वातावरण को दोषमुक्त करने के लिए जिन वस्तुओं का प्रयोग होता है उनके हानिकारक परिणाम निम्नलिखित हैं :

बाजार में बिकनेवाले पदार्थ—अन्न, फल, साग, दूध, चीनी आदि को कीटाणुरहित बनाने के लिए जिन दवाओं का प्रयोग किया जाता है उससे भी वे पदार्थ विषाक्त होकर मानव-देह पर नाना प्रकार की विकृतियाँ पैदा करते हैं। अतः पुस्तक के आकार का ध्यान रखते हुए पुस्तक में एलो-पैथी की जगत्-प्रसिद्ध दवाओं के गुणों को उन्हींके विशेषज्ञों द्वारा घातक सिद्ध किया गया है, की ही चर्चा की गयी है। इससे स्पष्ट हुआ कि एलोपैथी पद्धति से निर्मित ऐसी दवाओं को विज्ञापित नहीं किया गया है, जो निर्दोष हों। अतः पाठकों को सोचना होगा कि मानव-कल्याण के लिए कौन-सी चिकित्सा-पद्धति अपनायी जाय, जो निर्दोष हो, रोगनाशक हो तथा कल्याणकारी हो। आदिकालीन ऋषियों ने मानव-मूत्र पर काफी अन्वेषण कर अपने अनुभव से सिद्ध किया है कि यही एक ऐसी वस्तु है, जो निर्दोष है, रोगनाशक है, विषनाशक है तथा कल्याणकारी है। इसीको प्राचीन ऋषियों ने अमृत घोषित किया था। इस चिकित्सा की लोकप्रियता को नष्ट करने के लिए इसे धर्म से जोड़कर इसके सम्बन्ध में घृणात्मक वातावरण पैदा कर इस चिकित्सा को जनमानस से दूर फेंक दिया गया है। किन्तु जब सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ निरुपाय सिद्ध हो रही हैं तो बरबस ही बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, चिकित्सकों तथा चिन्तकों का ध्यान 'स्वमूत्र-चिकित्सा' की ओर मुड़ा है। इनके समक्ष महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि स्वमूत्र-चिकित्सा के विरुद्ध उत्पन्न किया गया घृणात्मक वातावरण कैसे दूर हो तथा उसके सेवन करने की झिझक कैसे मिटे, ताकि यह सार्वजनीन चिकित्सा का स्थान पुनः ग्रहण कर लोकप्रिय चिकित्सा का स्थान ग्रहण कर सके।

मूत्र की विषघ्न शक्ति :४:

आयुर्वेद के अनुसार मानव-मूत्र में हर प्रकार के विष को नष्ट करने की क्षमता विद्यमान है तथा सेवनकर्ता के लिए वह रसायन का काम करता है। ऐसी स्थिति में जब हवा, जल, जमीन, आकाश, शब्द, सभी प्रदूषण-युक्त हैं और इनके संयोग से उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुएँ (जिसमें दवा भी सम्मिलित है) दूषित हैं—प्रयोग करने पर मानव-देह पर मीठे जहर का काम कर रही हैं, ऐसी स्थिति में 'मानव-मूत्र', जो मानव-देह में यौगिक रीति से निरंतर तैयार हो रहा है, वह प्रदूषण-मुक्त है। उसको सेवन कर मानव-देह को प्रदूषण के दूषित परिणामों से मुक्त क्यों न किया जाय? वैज्ञानिकों, चिन्तकों, विशेषज्ञों तथा चिकित्सकों को मानव-कल्याण को दृष्टि में रखकर 'स्वमूत्र' को 'शिवाम्बु' के रूप में ग्रहण करने की मान्यता प्रदान करने का साहसपूर्ण कदम उठाना चाहिए। ●

शरीर की रचना :५:

स्वस्थ रहने के लिए निम्नलिखित तथ्यों को भी जानना आवश्यक है :

हमारे शरीर को स्वस्थ रहने के लिए मात्र चिकित्सा ही आवश्यक नहीं है, अपितु यह भी जानना जरूरी है कि हमारे शरीर को नीरोग रखने के लिए कौन-कौन-सी वस्तुएँ किस-किस मात्रा में कैसे-कैसे ली जायें। दिनचर्या, रात्रिचर्या तथा ऋतुचर्या का पालन कैसे हो, ताकि हम दीर्घायु हों, सुखी हों तथा स्वस्थ रहें। अतएव हमें शरीर-रचना के उन मूलभूत सिद्धान्तों को जानना चाहिए, जिनके कारण ही हमारा शरीर टिका हुआ है और उसमें किसी प्रकार के व्यवधान उपस्थित होने मात्र से शरीर अस्वस्थ हो जाता है, निर्जीव हो जाता है। आज हम प्रायः इन मूलभूत सिद्धान्तों को भूलते जा रहे हैं। प्राचीनकाल में विशेष जानकारी के कारण मनुष्य अस्वस्थ होने पर उनके कारण को दूर कर स्वस्थ हो जाता था। किन्तु आज वह दवाओं पर

आश्रित होकर, निरंतर रोग का भंडार बनकर विरासत में पुश्त-दर-पुश्त रोग पालता जा रहा है। इस कुटेव को दूर करना चाहिए। तभी मानव-जाति का कल्याण सम्भव होगा। अतः निम्नलिखित प्रकार की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है।

हमारे शरीर की रचना इस प्रकार है, ताकि उसमें पाँचों तत्त्वों का समावेश बराबर होता रहे। इसलिए शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम-कूप बनाये गये हैं, जिनके महीन छिद्रों से हवा, गर्मी, प्रकाश, जल आदि मिलते रहें। हमारी त्वचा के प्रत्येक वर्ग इंच में लगभग १० लाख छोटे-छोटे छिद्र भी होते हैं। उन्हींके द्वारा प्रकृति ओषजन खींचती है और करीब आधा किलो अनावश्यक मल बाहर फेंकती है। स्वर-शास्त्र के अनुसार श्वास-प्रश्वास के मार्गों को नाड़ी कहते हैं। शरीर में ऐसी नाड़ियों की संख्या ७२०० है। यह नसें ही नहीं हैं, अपितु प्राणवायु-मार्ग है। शरीर-शास्त्र के अनुसार जो जीव जितनी कम बार श्वास लेता है वह उतने ही ज्यादा दिन जीता है। यदि मनुष्य साधारण कामकाज में १२-१३ बार, दौड़-धूप में १८ बार तथा रतिकर्म में २६ बार श्वास लेता है। १३ बार श्वास लेता है तो उसकी उम्र १२५ वर्ष आँकी गयी है। यदि उसकी दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतु-चर्या नियमित है तो उसकी उम्र इससे ज्यादा भी बढ़ सकती है। प्राणायाम के द्वारा ही ऋषिगण लम्बी आयु प्राप्त कर लोक-सेवा करते रहते थे।

प्राचीन काल में स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय

प्राचीनकाल में बालक को जीवन के मूल तत्त्वों का व्यावहारिक ज्ञान करा दिया जाता था। उसके मानस-पटल पर यह अंकित कर दिया जाता था कि वह अपने आहार-विहार पर कैसे नियन्त्रण कर जीवनपर्यन्त स्वस्थ रह सकता है। साथ ही इसका भी ज्ञान करा दिया जाता था कि 'वीर्य' क्या है? कैसे पैदा होता है? कहाँ रहता है? इसके क्षय होने से क्या परि-णाम होते हैं? इसकी रक्षा करने से बालक मेधावी होता है।

वीर्य क्या है ?

ऋषियों के अनुसार मनुष्य का दैनिक आहार एक किलो प्रतिदिन मानकर १०० दिन में एक क्विण्टल होता है। १०० दिन तक खूब चवा-चवाकर भोजन करने पर २।। किलो खून वनता है और यह ढाई किलो खून अपनी स्वस्थ परम्परानुसार संचालित होता रहे तो उससे पाँच तोला वीर्य बनता है। व्रह्मचर्य-अवस्था में रहने से यह वीर्य निरंतर संग्रह होता रहता है, जो शरीर को स्वस्थ, सुन्दर, कान्तिवान्, बलिष्ठ, पुष्ट, सुगठित तथा बुद्धियुक्त मेधावी बनाने में सहायक सिद्ध होता है। वीर्य के ह्रास से शरीर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने वीर्य-रक्षा के लिए चार आश्रम बनाये थे। प्रत्येक मनुष्य को उन आश्रमों में निर्धारित काल तक रहकर आश्रम-धर्म का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करना कर्तव्य था। मनुष्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत के नियमों का पालन कर गुरुकुल-आश्रमों में रहकर ज्ञान प्राप्त करता था। पचीस वर्ष के उपरान्त पचास वर्ष तक विवाह करके गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करता था। पचास वर्ष के वाद पचहत्तर वर्ष तक वानप्रस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए गार्हस्थ्य जीवन को त्यागकर समाजोपयोगी कार्य करता था। पचहत्तर वर्ष के वाद संन्यास लेना पड़ता था। यानी मनुष्य जीवन के अंतिम क्षण तक 'वीर्य'-रक्षा करता रहता था और तभी नीरोग रहकर दीर्घायु प्राप्त करता था। उन्हीं ऋषियों के अनुसार एक बार शारीरिक सम्बन्ध करने पर दो तोला वीर्यपात होता है, अतः गार्हस्थ्य जीवन को मधुर और सुखमय बनाने के लिए तत्कालीन पति-पत्नी आत्मनियंत्रित रहते थे और कम-से-कम शारीरिक सम्वन्ध करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि एक बार के वीर्यपात से ३० दिन की उम्र घट जाती है। और आज इसके विपरीत आचरण हो रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे स्वास्थ्य की रक्षा कैसे सम्भव है ? अतएव आज की वर्तमान परिस्थिति में वीर्य-रक्षा तभी सम्भव है, जब हमारा ऋतुचर्या, दिनचर्या तथा रात्रिचर्या के अनुसार ही आहार और विहार, आसन और व्यायाम हो।

विश्राम ही शक्ति और औषधि है

हमारे शरीर में हृदय नाम का एक यंत्र है, जो २४ घंटों में एक लाख बार से अधिक धक-धक करता है और हमारी १२ हजार मील लम्बी रक्त-वाहिनियों में लगभग ५ हजार गैलन खून को दौड़ाता है। दो धक-धक के बीच का समय हृदय के विश्राम का समय है। इसी प्रकार मनुष्य की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए मर्यादित विश्राम की आवश्यकता होती है, जिसके अभाव में शरीर अस्वस्थ हो जाता है।

उपवास

प्रति सप्ताह मनुष्य को मूत्र और पानी के साथ उपवास करते रहने से शरीर स्वस्थ रहता है और आँतों में जमे विजातीय द्रव्यों का शमन होता रहता है। अतः शरीर को सदैव स्वस्थ रखने के लिए प्रातः उठना, स्नान करना, प्राणायाम, शारीरिक व्यायाम, आसन, टहलना, तैरना, दौड़ना, हँसना, खेलना, गाना, नाचना तथा मनोरंजन आवश्यक है।

मन पर नियन्त्रण

मनुष्य अपने मन के हवाई उड़ान पर जितना ही ज्यादा नियंत्रण रख सकेगा, उतना ही ज्यादा स्वस्थ रह सकेगा। प्राचीनकाल के ऋषियों ने इसीलिए यौगिक आसन, प्राणायाम, आचमन, जलस्पर्श, वस्ति, स्वेद-स्नान, जल-स्नान, सूर्य-नमस्कार, त्राटक, तीर्थ-स्थानों का भ्रमण, संयम, कल्पवास, व्रत, उपवास, सात्त्विक भोजन, लवणविहीन भोजन आदि को अपनी दिनचर्या का अंग मानकर नित्य नियमानुसार पालन करने का आदेश दिया था। इसके आचरण से शरीर और मन शुद्ध रहते थे। पशु-पक्षी भी इन्हीं प्राकृतिक नियमों का पालन कर स्वस्थ रहते हैं।

शरीर में पाँचों तत्त्वों का समावेश

पंचतत्त्वों से ही हमारे शरीर का निर्माण हुआ है। हमारे शरीर में इनकी अपनी निश्चित मात्रा है, जिनके यौगिक निर्माण से शरीर के लिए आवश्यक

रसों का निर्माण होता रहता है। आहार-विहार की गड़बड़ी से यदि इन पाँचों तत्त्वों में से किसी एक की मात्रा में कमी-वेशी हो जाने से शरीर अस्वस्थ हो जाता है, अतः हमें इन पाँचों तत्त्वों के परिमाण तथा उनकी गति-विधियों की जानकारी जरूरी है, ताकि यह समझा जा सके कि उन कमी-वेशी तत्त्वों की कैसे और किन उपादानों से पूर्ति की जा सकती है। स्वस्थ रहने के लिए इनकी जानकारी आवश्यक है।

आकाश-तत्त्व—शरीर में शिर, कण्ठ, उदर, हृदय, कटि-प्रदेश आकाश-तत्त्व के मुख्य स्थान हैं। इनमें से मस्तिष्कस्थित 'आकाश' वायु का भाग है, जो प्राण का मुख्य स्थान है। 'हृदय-देश' तेज का स्थान है। यह पित्त का भी स्थान है। इससे अन्न का पाचन होता रहता है। 'उदर देशगत' आकाश जल का भाग है। इसीसे हर प्रकार के मल का विसर्जन होता है। 'कटि देशगत' आकाश पृथ्वी का भाग है। यह अधिक स्थूल होता है। यह गंध का आश्रय है। हमारे शरीर में प्रत्येक रोमकूपों तथा चमड़ी के एक-एक छिद्रों तथा उसके बीच के जो स्थान रिक्त हैं, वहाँ भी आकाश है। अतः हमें स्वस्थ रहने के लिए अत्यधिक समय तक आकाश के नीचे रहना चाहिए। ठूँस-ठूँस-कर नहीं खाना चाहिए, उपवास करना चाहिए।

वायु-तत्त्व—अगर हमें एक मिनट भी वायु न मिले तो शरीर में वेचैनी पैदा हो जाती है। शरीर में वायु का प्रवेश पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त करोड़ों-करोड़ शरीर के छिद्रों से भी होता है। यह शरीर का आवश्यक भोजन-तत्त्व है। हम वड़ी मात्रा में अनवरत वायु का भक्षण करते रहते हैं। एक व्यक्ति एक मिनट में प्रायः १३ से १६ वार श्वास लेता है, तव उसकी उम्र १२५ वर्ष की होती है। इस क्रम से वह दिन-रात में २६००० वार श्वास लेता है। यदि प्राणायाम द्वारा इससे कम श्वास लेने की परिपाटी डाली जा सके तो उम्र वढ़ जाती है और यदि ज्यादा लेने के उपक्रम शुरू होंगे तो उम्र उसी मात्रा में घटती जायगी। एक वार श्वास लेने में २५ से ३० घन इंच या एक दिन में ३२ से ३७ पौंड वायु की हमारे शरीर को

आवश्यकता होती है। यह क्रिया एक साथ एक सौ से अधिक मांसपेशियाँ करती हैं। प्रतिदिन का भोजन + जल × ७ गुना वायु भक्षण किया जाता है। इसके साथ ही शरीर की त्वचा के महीन छिद्रों के झरोखों से आवश्यक ताजी हवा का प्रवेश होता रहता है। इसलिए ३६५ दिन पवन-स्नान आवश्यक है। आज के सभ्य वातावरण में मानव-देह वस्त्रों में (विशेषकर उन वस्त्रों में, जिनमें हवा प्रवेश कर ही नहीं सकती) अपने को लपेटे रहता है। हवा शरीर में प्रवेश न होने से रोग बढ़ता रहता है। अतः आवश्यक हवा के लिए हमें टहलने की आदत डालनी चाहिए। इससे २०० मांसपेशियों की निरंतर हल्की कसरत होती रहती है। टहलते समय दिल की गति भी ७२ वार से ८२ वार तक हो जाती है। श्वास भी तेज चलता है। इससे अधिक ओषजन खून में पहुँचकर खून को साफ करते हैं। टहलते समय गहरा श्वास लेने का अभ्यास डालना चाहिए। एक श्वास में ७ कदम चलने का अभ्यास करना चाहिए। इसके वाद ४ कदम तक श्वास रोककर चलना चाहिए। फिर ७ कदम तक श्वास वाहर निकालना चाहिए। याद रहे, श्वास साव-धानीपूर्वक धीरे-धीरे घटाना-वढ़ाना चाहिए।

जो कुछ भी भोजन उपलब्ध हो, हलका हो। उसे वत्तीस वार खूब चवा-चवाकर खाना चाहिए।

मानव-शरीर का गठन इस प्रकार है कि उसके फेफड़ों में सदैव १६० क्यूबिक इंच वायु भरा रहता है, जिससे बराबर वदलते रहना चाहिए, जो मात्र पवन-स्नान से ही वदला जा सकता है। वायु की कमी पड़ने से शरीर में व्यवधान पड़ता है।

वायु

शरीर में वायु के निम्न पड़ाव हैं : (१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) व्यान और (५) उदान। शरीर के सभी कार्य वायु के द्वारा ही होते हैं। उसका जिस मात्रा में अभाव होता है, उसी मात्रा में रोग होता है।

वायु का रूप

'प्राण वायु' जीवन की शक्ति को कायम रखता है। मल-मूत्र को 'अपान वायु' निकालता है। भोजन का पाचन तथा शरीर की गरमी को सम रखना 'समान वायु' का कार्यक्षेत्र है। समूचे शरीर में 'व्यान वायु' संचरण करता है। 'उदान वायु' शरीर को गिरने से रोकता है तथा मस्तिष्क के समस्त छोटे-बड़े अवयवों को रक्त पहुँचाने में सहायता करता है। शरीर का स्वस्थ रहना तभी सम्भव है, जब उचित मात्रा में शुद्ध वायु ग्रहण की जाय तथा अशुद्ध वायु शरीर से बाहर निकलता रहे।

प्राणायाम

कम-से-कम श्वास लेने की परिपाटी डालने को प्राणायाम कहते हैं। कम-से-कम श्वास लेने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है। फेफड़ों में लगभग ६० घन इंच हवा बराबर रहती है, जिनमें से २५ से ३२ घन इंच हवा निःश्वास द्वारा बराबर निकलती रहती है।

अग्नि-तत्त्व—अग्नि-तत्त्व के अभाव में शरीर निर्जीव हो जाता है, नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाता है। सूर्य को ही जगत्-नियन्ता कहा गया है। सूर्य-रश्मियाँ त्वचा-छिद्रों द्वारा आवश्यकतानुसार शरीर में पहुँचती रहती हैं। सूर्य-नमस्कार, सूर्य-स्नान, प्रातः-सायं करना अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य-रश्मियों के दैनिक प्रयोग से मनुष्य कफ, पित्त एवं वात से उत्पन्न सभी रोगों से मुक्त होकर १२५ वर्ष तक जीवित रहता है। कहा जाता है कि द्वापर-युग में सूर्योपासना से श्रीकृष्ण-पुत्र सांब कुष्ठ-रोग से मुक्त हुए थे।

सूर्य-स्नान

प्लीनी के अनुसार अमेरिका में ६०० वर्षों तक कोई चिकित्सक नहीं था। सिर्फ सूर्य-स्नान से ही रोग मिटते थे। प्राचीन यूनान, भारत, मिश्र और रोम आदि सभी देशों में सूर्य-स्नान से रोग-निवारण की पद्धति थी।

ईसा से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व हिप्रोकेटीज ने सूर्य-स्नान से रोग-मुक्ति लिखा है। सूर्य-रश्मियों में सभी प्रकार के खनिज, लवण तथा विटामिन्स विद्यमान हैं। यह तो सत्य है कि मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश आदि पंचतत्त्वों से जीवधारियों के शरीर का निर्माण हुआ है। जब तक जीव-धारियों के शरीर में ये पाँच तत्त्व उचित मात्रा में विद्यमान रहते हैं तभी तक शरीर स्वस्थ रहता है। उस कमी-वेशी को जानकर पूरा कर लेते रहने से मनुष्य जीवनपर्यन्त स्वस्थ रहता है।

जल-तत्त्व—वेदों में जल का महत्त्वपूर्ण वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद ६. ५७. २ में लिखा है कि जल से अभिसिचन करो, जल से उपसिचन करो, जल सर्वप्रधान औषधि है। इसके सेवन से जीवन सुखमय बनता है और शरीर की अग्नि भी आरोग्यवर्धक होती है।

ऋग्वेद १०. १३७. ६ के अनुसार जल ही औषधि है। जल रोगों का दुश्मन है, यह सभी रोगों को नष्ट करता है। अतः यह तुम्हारा भी रोग-नाश करे।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में १. १६ के अनुसार अमृत देनेवाला जल ही है।

अथर्ववेद ३. ७. ५ के अनुसार जल ही औषधि है। जल रोग को दूर करता है, जल सब रोगों का संहार करता है। अतः यह तुम्हें भी कठिन रोग से छुड़ा ले।

शिवाम्बु

जल-तत्त्व का वह परिपक्व कुदरती रस है, जो शरीर के यौगिक संगठनों द्वारा निर्मित हो-होकर रक्तवाहिनियों द्वारा निरन्तर निर्झरित होकर मूत्ररूप में बाहर निकलता रहता है। यह मूत्र शरीर का उपयोगी अंश होने के कारण पुनः प्रयोग करने से शरीर को रोग-मुक्त करता है। शिवाम्बु-पान शरीर के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना वायु।

जल के गुण

विशेषज्ञों के अनुसार हमारे शरीर के वजन के १०० भागों में से ७०

भाग मात्र जल ही है, जो हमारी आँखों में, फेफड़ों में, हृदय में, हड्डियों में तथा मस्तिष्क आदि में रहता है। यदि जल का अंश वायु से खिंच जाय तो वायु जल-शून्य हो जायगा। फलस्वरूप इस भूमण्डल से जीव भी शून्य हो जायेंगे। यही स्थिति हमारे शरीर की भी है। हम जो जल पीते हैं, मात्र उसीसे हमारे शरीर की आवश्यकता की पूर्ति तथा पोषण नहीं होता, बल्कि शरीर में स्थित उद्जन और ओषजन के संयोग से हमारे शरीर में प्रतिदिन निरन्तर २९८ ग्राम जल की उत्पत्ति होती रहती है।

विशेषज्ञों के अनुसार यदि सूर्योदय के समय प्रतिदिन नियमित रूप से आठ अंजलि जल पीया जाय तो मनुष्य कभी बीमार नहीं पड़ता, बुढ़ापा, नहीं सताता, सौ वर्ष से कम नहीं जीता, बवासीर, सूजन, संग्रहणी, ज्वर, पेट की बीमारियाँ, कोष्ठबद्धता, कण्ठ की खराबियाँ, चर्बी की बढ़ोत्तरी, मूत्र-सम्बन्धी पीड़ाएँ, रक्त-पित्त-विकार, नासिका आदि के रक्तस्राव, कान, शिर, नितम्ब, कमर की पीड़ा, नेत्र-दोष आदि अनेक व्याधियाँ मिटती हैं। यदि नासिका द्वारा जल का पान किया जाय तो उपर्युक्त फायदे के साथ बुद्धि निर्मल होती है, आँखों की ज्योति बढ़ती है, शिर के बाल अकाल में सफेद नहीं होते, सभी रोगों से मुक्ति होती है, जल गुर्दों में जाकर उन्हें मजबूतबनाता है, आँतों को पुष्ट करता है, संचित मल को बाहर निकालने में सहायक होता है, मूत्र-पिण्डों द्वारा शोषित पदार्थों से मिलकर यह पुनः मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है।

इसका कुछ अंश श्वास और प्रस्वेद के रूप में भी बाहर निकलता है, जो बचा रहता है। वह शरीर के पाचक रसों से मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित होकर उसके पाचन-रसों से परिपुष्ट एवं परिपक्व होकर खाये हुए अन्न को सरलतापूर्वक पचाने में समर्थ होता है तथा विजातीय द्रव्य को भी घुलाकर वाहिनियों द्वारा बाहर निकालने में समर्थ होता है। रक्त की बढ़ी हुई उष्णता को शमन करके शरीर की आन्तरिक गर्मी को कम करता है और उसे पसीने के रूप में बाहर निकाल देता है तथा उदर और आमाशय

में संचित लार आदि पदार्थों को धोकर पाकाशय और अँतड़ियों में पहुँचा देता है। फलस्वरूप अधपचे अन्न, मल के टुकड़े आदि वहकर गुदा-मार्ग द्वारा वाहर निकल जाते हैं। नाक से खून गिरना, लू लग जाना, थक जानेवाली प्रवृत्ति के लोगों को इससे विशेष लाभ होता है।

पृथ्वी-तत्त्व—पृथ्वी-तत्त्व को अन्य चार तत्त्वों का रस कहते हैं। पृथ्वी को ही आप अन्न कह सकते हैं। सभी प्राणियों की उत्पत्ति पृथ्वी से होती है और पृथ्वी की उत्पत्ति वृष्टि (जल) से होती है। आहार-विहार की गड़वड़ी से यदि पृथ्वी-तत्त्व की गड़वड़ी हो जाय तो उसकी पूर्ति भी पृथ्वी-तत्त्व से ही होती है। इस धरती पर जितने भी पदार्थ हैं, यदि उनकी सूक्ष्म रूप से जाँच की जाय तो उनमें जीवनोपयोगी सभी २४ तत्त्व विद्यमान देखे गये हैं।

●

शास्त्र-वचन : ६ :

(१) शिवाम्बु-कल्प

अथ वक्ष्ये महेशानि ! क्रियाः सिद्धिप्रदायिनीः ।
पात्राणि विहितानीह शास्त्रविधिः प्रयत्नतः ॥१॥

भगवान् शंकर पार्वतीजी से कहते हैं :

हे पार्वती ! अव मैं सिद्धि देनेवाली क्रियाओं को कहूँगा। तुम सुनो। इस विषय में प्रयत्नपूर्वक शास्त्रों में विधि एवं पात्र (वर्तन) कहे गये हैं।

सौवर्णं राजतं ताम्रं कांस्यजं रीतिजं तथा ।
आयसं मृण्मयं चैव नागनं काचसम्भवम् ॥२॥
वैणवं काष्ठसंभूतं बिल्वजं चाम्बुसम्भवम् ।
अस्थिजं चर्मजं चैव पात्रं वै पर्णसम्भवम् ॥३॥

सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, पीतल, लोहा, मिट्टी, नागन, सीसा, वाँस,

लकड़ी तथा विल्व (बेल) का पात्र, जल से उत्पन्न (सीप, घोंघा आदि), हड्डी, चमड़ा तथा पर्ण (पत्ता) का पात्र ।

एषामन्यतमे पात्रे धारयेच्च शिवाम्बुकम् ।
उत्तमं मृण्मयं पात्रं ताम्रजं देवि सूत्तमम् ॥४॥

इनमें से किसी एक पात्र में शिवाम्बु (मूत्र) धारण करे । हे देवी ! मिट्टी का पात्र उत्तम कहा गया है और ताँबे का पात्र अति उत्तम कहा गया है ।

अक्षारकटुकान्नाशी साधकः श्रमवर्जितः ।
शयीत लघुभुग्रात्रौ भूमिशायी जितेन्द्रियः ॥५॥
चतुर्थ्यामिव शिष्टायां रात्रावुत्थाय बुद्धिमान् ।
मूत्रोत्सर्गं प्रकुर्वीत प्राङ्मुखः परमाशयः ॥६॥

साधक परिश्रमवाला काम न करे । खारा एवं कटु (कड़वा) से भिन्न अन्न खाये, रात्रि में थोड़ा भोजन करे तथा भूमि पर सोये । इन्द्रियों को वश में रखे, बुद्धिमान्, उदार आशयवाला साधक जब रात्रि का चौथा भाग शेष रह जाय तब उठकर पूर्वमुख हो मूत्र का त्याग करे ।

आदिधारां परित्यज्य चरमां च त्यजेद् बुधः ।
मध्यधारां प्रगृह्णीयादेषोऽत्र विधिरुत्तमः ॥७॥

बुद्धिमान् मनुष्य को (मूत्र की) पहली और अन्तिम धार त्याग देनी चाहिए तथा मध्य धार ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ यह उत्तम विधि (पद्धति) है ।

यथा भुजङ्गदेहेषु मुखे पुच्छे विषं भवेत् ।
एवं शिवाम्बुधारायां प्रकारः प्रथितः शिवे ॥८॥

हे पार्वती ! जिस प्रकार साँप के शरीर में मुख और पूँछ में विष होता है, उसी प्रकार शिवाम्बु (मूत्र) में पहली और अन्तिम धार में विष प्रसिद्ध है ।

शिवाम्बु चामृतं दिव्यं जरारोगविनाशनम् ।
तदादाय महायोगी कुर्याद् वै निजसाधनम् ॥९॥

शिवाम्बु (मूत्र) वृद्धावस्था और रोग को नाश करनेवाला दिव्य अमृत है। योगी को उसे लेकर अपना योग-साधन करना चाहिए।

मुखशुद्धिं विधायाथ कृत्वा चावश्यकीं क्रियाम् ।
पिबेच्छिवाम्बु विमलं जन्मरोगविनाशनम् ॥१०॥

सर्वप्रथम मुख-शुद्धि तथा आवश्यक क्रिया करके जन्म-रोग विनाश करनेवाले स्वच्छ शिवाम्बु (मूत्र) का पान करे।

मासमात्रप्रयोगेण निर्मलाभ्यन्तरो भवेत् ।
मासद्वयाभ्यासवशात् पाटवं चेन्द्रियादिषु ॥११॥

एक मास तक शिवाम्बु का प्रयोग करने से आभ्यन्तर (शरीर के अन्दर का) भाग शुद्ध हो जाता है। दो मास तक शिवाम्बु के अभ्यास से इन्द्रिय आदि में पटुता अर्थात् कार्यक्षमता आ जाती है।

मासत्रयप्रयोगेण रोगदुःखविनाशनम् ।
पञ्चमासाभ्यासतोऽपि दिव्यदृष्टिरनातुरः ॥१२॥

तीन मास तक प्रयोग करने से रोग और दुःख का विनाश हो जाता है। पाँच मास तक के प्रयोग से मनुष्य (साधक) नीरोग हो दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है।

षण्मासाज्जायते योगी महाबुद्धिः कृतागमः ।
सप्तमासप्रयोगेण जायते बलवत्तरः ॥१३॥

योगी (साधक) छः मास तक प्रयोग करने से बड़ा बुद्धिमान् एवं शास्त्रों का ज्ञाता होता है। सात मास तक के प्रयोग से अधिक बलवान् होता है।

अष्टमासाभ्यासवशात् स्वर्णकान्तिः स्थिरा भवेत् ।
नवमासप्रयोगेण क्षयकुष्ठविनाशनम् ॥१४॥

आठ मास के अभ्यास से शरीर की कान्ति (चमक) सोने की-सी हो जाती है। नव मास के प्रयोग से क्षय और कुष्ठ (कोढ़) का विनाश हो जाता है।

दशमासप्रयोगेण जायते तेजसां निधिः।
एकादशभिरेवात्र मासैः सर्वाङ्गनिर्मलः ॥१५॥

दस मास तक प्रयोग करने से बड़ा तेजस्वी होता है। ग्यारह मास के प्रयोग से सारे अंग निर्मल (शुद्ध) हो जाते हैं।

जायते मानवो वर्षप्रयोगेणार्कसन्निभः।
वर्षद्वयेन जायेत पृथिवीतत्त्वसंजयी ॥१६॥

मनुष्य एक वर्ष के प्रयोग से सूर्य के समान कान्तिवाला हो जाता है तथा दो वर्षों में पृथ्वी तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है।

वर्षत्रयाभ्यासवशाद् अप्तत्त्वजयकृद् भवेत्।
चतुर्वर्षाभ्यासतः स्यात् तेजस्तत्त्वजयी ध्रुवम् ॥१७॥

तीन वर्षों के अभ्यास से जल-तत्त्व पर विजय प्राप्त करता है। चार वर्षों के अभ्यास से तेज-तत्त्व पर निश्चित विजय पा सकता है।

पञ्चवर्षाभ्यासतश्च योगी वायुजयी भवेत्।
सप्तवर्षप्रयोगेण अहंकारजयी भवेत् ॥१८॥

पाँच वर्षों के प्रयोग से योगी (साधक) वायु-तत्त्व पर विजय पा जाता है तथा सात वर्षों के प्रयोग से अहंकार-तत्त्व को जीत लेता है।

अष्टवर्षप्रयोगेण महत्तत्त्वजयी भवेत्।
नववर्षाभ्यासतोऽयं जन्मात्ययविवर्जितः ॥१९॥

आठ वर्षों के प्रयोग से यह (साधक) महत्तत्त्व पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा नव वर्षों के अभ्यास से जन्म और मृत्यु से रहित हो जाता है।

दशवर्षप्रयोगेण खेचरः कामवर्जितः।
तथा चैकादशे वर्षे शृणोत्याभ्यन्तरं ततः ॥२०॥

दस वर्षों के प्रयोग से योगी कामरहित हो जाता है और आकाश में उड़ सकता है तथा ग्यारह वर्षों में शरीर के भीतर की आवाज सुन सकता है।

द्वादशाब्दप्रयोगेण जीवेदाचन्द्रतारकम्।
बाध्यते नैव सर्पाद्यैर्विषाद्यैर्न विहिंस्यते।
न दह्यतेऽग्निना क्वापि काष्ठवत्तरते जलम् ॥२१॥

बारह वर्षों के प्रयोग से जब तक चन्द्रमा एवं तारागण विद्यमान हैं तब तक जीवित रह सकता है। विषधर साँप आदि न उसे काट सकते हैं और न उनके काटने से मर सकता है। आग उसे जला नहीं सकती। वह जल में लकड़ी की तरह तैर सकता है।

अन्यं देवि प्रकारं ते वक्ष्यामि शृणु यत्नतः।
शिवाम्बुमिश्रितं चूर्णं गुडूच्या भक्षयेन्नरः ॥२२॥

हे देवि! तुमसे (शिवाम्बु के प्रयोग का) अन्य प्रकार कहूँगा। तुम प्रयत्न करके सुनो। गुडूची का चूर्ण शिवाम्बु (मूत्र) सहित मनुष्य खाये।

एवं षण्मासतो रोगैर्विमुक्तः प्राप्नुयात्सुखम्।
हरीतकीभवं चूर्णं भक्षयेत्तु प्रयोगतः ॥२३॥

इस प्रकार छः मास तक प्रयोग करने से रोग-मुक्त हो सुख पाता है। शिवाम्बुसहित हर्रे का चूर्ण खाये।

शिवाम्बुपानकं कुर्याज्जरारोगविनाशनम्।
एकवर्षाभ्यासवशाज्जायते बलवत्तरः ॥२४॥

और शिवाम्बु का पान करे। एक वर्ष के अभ्यास से उसकी वृद्धावस्था और रोग का विनाश हो जाता है और अधिक बलवान् हो जाता है।

गन्धकं माषमात्रं तु प्रातःकाले च भक्षयेत्।
एवं वर्षत्रयाभ्यासाज्जीवेदाचन्द्रतारकम्।
तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां शुक्लं भवति काञ्चनम् ॥२५॥

जो एक मासाभर गन्धक-चूर्ण शिवाम्बु के साथ प्रातः खाये वह इस

प्रकार तीन वर्षों के अभ्यास से जब तक चन्द्रमा और तारागण विद्यमान हैं तब तक जीवित रहे और उसके मल-मूत्र (के मलने) से सोना सफेद हो जाय।

कुष्ठं शिवाम्बुमिलितं भक्षयेत् क्रमयोगतः।
द्वादशाब्दप्रयोगेण वलीपलितवर्जितः।
नागायुतैः समबलो जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥२६॥

शिवाम्बु के साथ कुष्ठ (कूठ) का चूर्ण विधिवत् खाये तो बारह वर्षों के प्रयोग से चमड़े की सिकुड़न एवं सिर के बाल की सफेदी दूर हो जाय। दस हजार हाथी के समान बलशाली हो चन्द्रमा और तारागणों की स्थिति तक जीये।

मरिचं त्रिफलाचूर्णमिश्रितं च शिवाम्बुना।
एतद्योगप्रयोगेण जायतेऽप्यमरद्युतिः ॥२७॥

काली मिर्च तथा त्रिफला का चूर्ण शिवाम्बु के साथ प्रयोग करने से साधक देवताओं के समान कान्तिवाला हो जाता है।

गन्धकं चाभ्रसत्त्वेन मिश्रितं क्रमयोगतः।
भक्षयेदम्बुमात्रं यः सहितेन शिवाम्बुना ॥२८॥
नाशयेदौदरान् रोगान् तथा वायुसमुद्भवान्।
बलवान् दिव्यकान्तिश्च दीर्घायुः कालवंचकः ॥२९॥

अभ्रक-सत्त्व के साथ विधिपूर्वक मिश्रित गन्धक चूर्ण शिवाम्बु के साथ थोड़ा खाये तो पेट के रोग तथा वायु से उत्पन्न होनेवाले रोग नष्ट हो जायँ, बलवान्, दिव्य कान्तिवाला, मृत्यु पर विजय पाकर दीर्घायु हो।

शिवाम्बुभक्षणं यस्तु नित्यं कुर्वन् दिने दिने।
अक्षाराम्लकटून्यत्ति स सिद्धिं शीघ्रमृच्छति ॥३०॥

जो प्रतिदिन नियमपूर्वक शिवाम्बु-पान करता हुआ खारा, खट्टा तथा कड़वा से भिन्न अन्न खाता है वह शीघ्र सिद्धि प्राप्त करता है।

सर्वापदविनिर्मुक्तः सदाशिववपुर्धरः।
ब्रह्माण्डगोलके क्रीडन् देववन्मोदते चिरम् ॥३१॥

सब आपत्तियों (उपद्रवों) से मुक्त हो, सदा सुन्दर शरीर धारण कर ब्रह्माण्डगोलक में खेलता हुआ वहुत समय तक देवताओं की तरह आनन्द करता है।

निम्बस्य पत्रजरसं मिश्रितं च शिवाम्बुना।
यः सेवते योगयुक्तो स भवेदमरोपमः ॥३२॥

जो योगी (साधक) नीम की पत्ती का रस शिवाम्बु (मूत्र) के साथ मिश्रित कर सेवन करता है वह देवतुल्य हो जाता है।

निम्वत्वङ्मिश्रितं चूर्णं विदारीकन्दसम्भवम्।
आवर्षं सेवनाज्जन्तुः कायदोषांस्त्यजेत्ततः ॥३३॥

नीम की छाल के साथ मिश्रित विदारीकन्द का चूर्ण एक वर्ष तक प्राणी सेवन करे तो शरीर के दोष नष्ट हो जायँ।

पद्मबीजं समाक्षिकं सर्षपेण समन्वितम्।
शिवाम्बु भक्षयेन्नूनं जायते देहलाघवम् ॥३४॥

सरसों से युक्त पद्मबीज (कमलगट्टा) का चूर्ण मधु के साथ खाकर शिवाम्बु-पान करे तो शरीर हल्का हो जाय।

मधूकफलबीजं च त्रिफलासमभागतः।
भक्षयेदनिशं तेन जरारोगक्षयो भवेत् ॥३५॥

जेठीमधु और त्रिफला का चूर्ण समभाग में शिवाम्बु के साथ लगातार सेवन करे तो वृद्धत्व एवं रोग दूर हो जाय।

क्षौद्रं ससैन्धवं प्रातर्भक्षयेत् समभागतः।
पश्चाच्छिवाम्बुसंपायी भवेद् दिव्यशरीरभाक् ॥३६॥

सैन्धव (सेंधा नमक) और मधु सम भाग में प्रातः खाये और बाद में शिवाम्बु पान करे तो दिव्य शरीरवाला हो जाय।

गन्धकं धात्रिचूर्णं च जातीफलसमन्वितम् ।
आदौ जग्ध्वा ततः पेयं शिवाम्बु रुग्विनाशकृत् ॥३७॥

जातीफल (जायफल) के चूर्ण के साथ गन्धक तथा आँवला का चूर्ण पहले खाकर शिवाम्बु पान करे तो रोग नष्ट हो जाय ।

पयोभक्षः सप्तवर्षं नित्यं पानं शिवाम्बुनः ।
करोति सततं रोगनाशनं बलपुष्टिकृत् ॥३८॥

जो सात वर्ष तक नित्य दूध और शिवाम्बु का पान करता है उसके रोग नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर बलवान् एवं पुष्ट हो जाता है ।

करोत्यशनकं यस्तु चूर्णस्यामृतकस्य च ।
पश्चाच्छिवाम्बुपानं च कुर्वन्मृत्युंजयेद्ध्रुवम् ॥३९॥

जो अमृतक का चूर्ण खाकर वाद में शिवाम्बु पान करता है वह निश्चित मृत्यु को जीत सकता है ।

मधुशर्करयोपेतं पिवेद् यश्च शिवाम्बुकम् ।
मासषट्कवशेनायं रोगमुक्तः सुवाक्शिराः ॥४०॥

जो मधु और शक्करयुक्त शिवाम्बु (मूत्र) छः मास तक पीये वह रोग से मुक्त हो सुन्दर वाणी एवं सुन्दर मस्तकवाला हो जाय ।

कृत्स्नां शुण्ठीयुतां चापि चूर्णितां यस्तु भक्षयेत् ।
पश्चाच्छिवाम्बु पानीयं रोगाञ्जयति सुस्फुटम् ॥४१॥

जो सोंठ का चूर्ण खाये और वाद में शिवाम्बुपान करे तो वह रोगों पर स्पष्ट रूप से काबू पा जाय ।

प्रातः शिवाम्बुपानेन निर्गुण्डीपत्रभक्षणात् ।
जायते बलवान् योगी दीर्घदृष्टिः कृतार्थकः ॥४२॥

योगी (साधक) प्रातःकाल शिवाम्बु पान करे तथा निर्गुण्डी (मेउड़ी) का पत्ता खाये तो बलवान्, दूरदृष्टिवाला तथा कार्यों में सफलता पानेवाला हो ।

मनःशिलां यस्तु योगी चूर्णितान्तु शिवाम्बुके।
विलेपयेदरोगः स्यादङ्गे कृष्णशिरोरुहः ॥४३॥

जो योगी मनःशिला (मैनसिल) का चूर्ण शिवाम्बु में घोलकर शरीर में लेप करे तो नीरोग हो एवं सिर का बाल काला रहे।

अथ वक्ष्ये महेशानि ! लेपनं च शिवाम्बुनः।
यथावल्लेपनाद् योगी योगसिद्धिमवाप्नुयात् ॥४४॥

हे पार्वती ! अब मैं शिवाम्बु के लेप को कहूँगा। योगी (साधक) ठीक ढंग से लेप करने से योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है।

शिवाम्बु प्रथमं ग्राह्यं मृत्पात्रे स्थापयेद् ध्रुवम्।
तुर्यभागावशिष्टं तत् स्वाङ्गशीतलमुद्धरेत् ॥४५॥

पहले शिवाम्बु मिट्टी के पात्र में ग्रहण करे एवं उसीमें निश्चित रूप से रखे। जब चौथाई भाग शेष रहे और पूर्ण रूप से शीतल हो जाय तब उसे मिट्टी के पात्र में से निकाल ले।

तस्य मन्त्रं प्रवक्ष्यामि ग्रहणादानसर्जने।
मन्त्रः ॥ ॐ ह्रीं क्लीं भैरवाय नमः ॥
अनेन ग्रहणं कुर्याद् योगी यत्नाच्छिवाम्बुनः।
मन्त्रः ॥ ॐ क्लीं उड्डामरेश्वराय नमः ॥
अनेनादाय तत्पानं योगी कुर्वन्न दोषभाक् ॥४६-४७॥

शिवाम्बु को ग्रहण करने, पीने और छोड़ने के मन्त्र कहूँगा। 'ॐ ह्रीं क्लीं भैरवाय नमः' इस मन्त्र से योगी शिवाम्बु ग्रहण करे और 'ॐ क्लीं उड्डामरे-श्वराय नमः' इस मन्त्र से पान करे तो दोषमुक्त हो जाय।

तत्समादाय स्वाङ्गे तु योगी संलेपयेच्छिवे।
तेनाङ्गपुष्टिर्विपुला रोगनाशो विशेषतः ॥४८॥

हे पार्वती ! इस प्रकार उस शिवाम्बु को लेकर योगी अपने शरीर में लेप करे तो उससे सभी अंग काफी पुष्ट हो जायें एवं विशेष रूप से रोग का विनाश हो जाय।

योगीन्द्रत्वमवाप्नोति गतिरव्याहता भवेत् ।
नागायुतबलो योगी यथेष्टभोजनी भवेत् ॥४९॥

इस प्रकार योगी योगीन्द्र-पद पाता है और उसकी गति अव्याहत होती है अर्थात् जहाँ भी जाना चाहे वहाँ जा सकता है ।

अपक्वं शिवतोयं तु लेपयन् मूढबुद्धितः ।
रोगवृद्धिमवाप्नोति सर्वाङ्गशिथिलो भवेत् ॥५०॥

जो अपक्व (विना गर्म किया हुआ) शिवाम्बु (मूत्र) मूर्खतावश लेप करता है उसके रोग बढ़ जाते हैं एवं सब अंग शिथिल हो जाते हैं ।

तस्मादपक्वं न चापि शिवतोयं विलेपयेत् ।
पक्वे शिवाम्बुके देवि सर्वसिद्धिः करे स्थिता ॥५१॥

इसलिए अपक्व शिवाम्बु शरीर में न मले । हे देवि ! पक्व (गरमाये हुए) शिवाम्बु से सारी सिद्धि करतलगत हो जाती है ।

शिवाम्बुग्रहणं देवि ! पानं च विधिना ततः ।
शिवतोयविलेपाच्च योगी स्यादजरामरः ॥५२॥

हे देवि ! विधिपूर्वक शिवाम्बु का ग्रहण एवं उसका पान करने से तथा विधिपूर्वक लेप करने से योगी (साधक) अजर-अमर हो सकता है ।

तस्य मूत्रपुरीषाभ्यां शुक्लं भवति काञ्चनम् ।
शिरोमृतं कक्षजलं शिवतोयविमिश्रितम् ।
लेपयेदङ्गके योगी महाबलयुतोऽप्यरुक् ॥५३॥

उस (साधक) के मूत्र एवं मल के प्रयोग से सोना सफेद हो जाता है । शिरोमृत और कक्षजल शिवाम्बु के साथ मिश्रण कर शरीर में जो योगी लेप करता है वह रोगरहित हो महाबलवान् होता है ।

प्रातर्निरन्तरं योगी पानं कुर्वन् शरत्त्रयम् ।
अक्षारतिक्तकटुकभोजी कामेश्वरो भवेत् ॥५४॥

जो योगी तीन वर्ष तक प्रातः लगातार शिवाम्बु पान करता है; खारा,

तीता और कड़वा से भिन्न खाता है वह कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है।

दूरदर्शनगामी स्याद् दूरघ्राणं करोत्यरुक्।
चणकान् गुडसंमिश्रान् भर्जितान् भक्षयेत् प्रिये ॥५५॥

हे प्रिये ! जो भूना हुआ चना गुड़ में मिश्रित कर खाता है और शिवाम्बु पान करता है वह दूरदर्शी, दूर तक गमन करनेवाला, दूर तक की गन्ध ग्रहण करनेवाला तथा नीरोग होता है।

पश्चाच्छिवजलं पीत्वा तच्चाप्यङ्गे विलेपयेत्।
षण्मासाभ्यासवशतो जायतेऽङ्गे लघुत्वभाक् ॥५६॥

बाद में शिवाम्बु पीकर उसे अंग में लेप करे तो छः मास के प्रयोग से शरीर हल्का हो जाय।

कणामूलं माषमात्रं मरिचं माषमात्रकम्।
यो भक्षयेत् प्रत्यहं च पश्चाच्छिवजलं पिबेत्।
मासमात्रेण देवेशि ! सुस्वरः कायरोगजित् ॥५७॥

जो प्रतिदिन एक-एक मासाभर पीपरामूल और मरिच का चूर्ण खाये तथा बाद में शिवाम्बु पान करे तो हे देवि ! एक मास में उसकी आवाज सुन्दर एवं सरस हो जाय और शरीर रोगरहित हो जाय।

सर्वदा चूर्णितं विश्वौषधं योगीश्वरो पिबेत्।
पश्चाच्छिवाम्बुपायी च महाबलपराक्रमः।
नागायुतसमप्राणो देवस्त्रीप्रार्थ्ययौवनः ॥५८॥

जो योगी सदा सोंठ का चूर्ण खाये तथा बाद में शिबाम्बु पान करे तो वह महाबली और पराक्रमी हो जाय। दस हजार हाथी के समान बल प्राप्त करे तथा उसका यौवन इतना सुन्दर हो कि देवताओं की स्त्रियाँ उसकी कामना करें।

अभयां भर्जितां चूर्णीकृत्यां भुक्त्वा पिबेच्छिवे ।
सर्वाङ्गमलनिर्मुक्तो देवकायः प्रसन्नधीः ॥५९॥

हे पार्वती ! भुनी हुई हर्रें का चूर्ण खाकर शिवाम्बु पान करे तो शरीर का सारा दोष दूर हो जाय, शरीर देवताओं की तरह सुन्दर हो और प्रसन्न बुद्धिवाला हो जाय ।

गुडूची त्रिफलाचूर्णं समभागकटुत्रिकम् ।
भक्षयेत्क्षीरभक्ताशी शिवाम्बुपरिसेवकः ।
अब्दाद् योगी विजानाति शास्त्रतत्त्वं यथोक्तवत् ॥६०॥

गुडूची, त्रिफला तथा तीनों कटु (सोंठ, मरिच, पीपर) का समभाग में चूर्ण दूध और भात के साथ खाये और शिवाम्बु सेवन करे तो योगी एक वर्ष में शास्त्रों का यथोक्त तत्त्व जान जाय ।

देववज्जायते भूमौ महाबलपराक्रमः ।
वर्षत्रयाभ्यासतः स्यात् सर्वज्ञः सर्वसिद्धियुत् ।
वक्तानधीतशास्त्रस्य त्रैलोक्यमपि पश्यति ॥६१॥

तीन वर्षों के अभ्यास से सर्वज्ञ एवं सर्वसिद्धियुक्त हो जाता है, पृथ्वी पर देवताओं के समान महाबली और पराक्रमी होता है, बिना पढ़े हुए शास्त्रों का वक्ता होता है तथा तीनों लोकों को देखने लगता है ।

शरपुङ्खां सपञ्चाङ्गां चूर्णितां च शिवाम्बुना ।
पिबेद्योगी महायोगी परमानन्दभाग्भवेत् ॥६२॥

पंचांग (जड़, तना, पत्ती, फूल, फल) सहित शरपुंखा का चूर्ण शिवाम्बु के साथ सेवन करे तो वह योगी महायोगी हो परम आनन्द प्राप्त करे ।

महौषधं महादेवि ! मधुरत्रयमिश्रितम् ।
सनिर्गुण्डीपत्ररसं पिबेच्छिवजलान्वितम् ॥६३॥
एकमासेन देवेशि ! दृढाङ्गोऽमितविक्रमः ।
अब्दान्तराद्योगसिद्धः कर्त्तव्यं योगमनुव्रात् ॥६४॥

हे महादेवी ! तीनों मधुर पदार्थों (मधु, शक्कर, घी) से मिश्रित सोंठ का चूर्ण निर्गुण्डी (मेवड़ी) की पत्ती के रस तथा शिवाम्बु के साथ पान करे तो एक मास में सारा अंग मजबूत हो जाय, अपार पराक्रम से युक्त हो जाय और एक वर्ष में योगसिद्ध हो कर्त्तव्य योग को प्राप्त करे।

कृष्णांस्तिलांस्तथा श्वेतान् समभागान् प्रभक्षयेत् ।
करञ्जबीजसंयुक्तं पिचुमन्दरसेन च ।
भक्षयेत्तन्महायोगी पक्षात्सर्वाङ्गसुन्दरः ॥६५॥

बरावर भाग में काला और सफेद तिल करंज (कंजा) वीज के साथ नीम की पत्ती के रस में मिलाकर खाये और शिवाम्बु पान करे तो वह महायोगी एक पखवारा (पन्द्रह दिन) में सर्वांगसुन्दर हो जाय।

अहिफेनं दग्धशुद्धं गुञ्जात्रयमितं बुधः ।
शिवाम्बुभक्षणात् पीत्वा यथेष्टं मैथुनं भवेत् ॥६६॥
जितवीर्यो जितश्वासो जितकामक्रुधादिकः ।
चरति बहुकालं च निखिलां वसुधामिमाम् ॥६७॥

शुद्ध रीति से दग्ध किया हुआ अहिफेन (अफीम) तीन गुंजा (रत्ती) भर लेकर जो बुद्धिमान् शिवाम्बु के साथ सेवन करता है वह इच्छानुसार मैथुन कर सकता है; वीर्य, श्वास, काम, क्रोध आदि को जीत लेता है तथा अनन्त समय तक इस पृथ्वी पर विचरण करता है।

निर्गुण्डीं सनिशायुग्मां त्रिफलां भक्षयेत्ततः ।
पिबेच्छिवजलं देवि त्रिमासं योगविच्छिवे ।
जायते सर्ववित्सूक्ष्मः कामकोटिसमद्युतिः ॥६८॥

हे पार्वती देवी ! निगुंडी (मेवड़ी), हल्दी, दारुहल्दी तथा त्रिफला खाये तथा उसके बाद शिवाम्बु पीये तो योगी (साधक) तीन मास में सब कुछ जाननेवाला, सूक्ष्म दृष्टिवाला और करोड़ों कामदेवों के समान कान्ति-वाला हो जाता है।

भृङ्गराजं समाक्षिकं लीढ्वा च शिवतोयकम् ।
पीत्वा पीत्वा महेशानि ! योगारूढः क्रमेण तु ।
षण्मासाभ्यासतः कालवञ्चको दीर्घदर्शनः ॥६९॥

हे पार्वती ! जो मधु के साथ भृङ्गराज (भंगरैया) का चूर्ण चाटकर शिवाम्बु पान करता रहे तो वह क्रम-क्रम से योग में आरूढ़ हो छः मास के अभ्यास से मृत्यु को जीतनेवाला एवं दूरदृष्टिवाला हो जाता है ।

निम्बत्वचं साग्निमूलं कणामूलसमन्वितम् ।
शिवाम्बुसेवी षण्मासाज्जायतेऽमरपूजितः ॥७०॥

अग्निमूल और कणामूल (पीपरामूल) के साथ नीम की छाल का चूर्ण खाये और शिवाम्बु सेवन करे तो छः मास में देवताओं द्वारा पूजा पाने योग्य हो जाता है ।

रक्तापामार्गजं मूलं चक्रमर्दस्य मूलकम् ।
सपारिभद्ररसकं पीत्वा शिवजलं पिबेत् ॥७१॥
कृष्णकेशो रोगमुक्तो वलीपलितवर्जितः ।
दशयोजनपर्यन्तमनायासेन गच्छति ॥७२॥
शृणोति दूरवृत्तान्तं जानाति परचित्तगम् ।
राजचन्द्रमुखीचित्तमोषकः परमेश्वरि ॥७३॥

लाल चिचड़ी की जड़, चकवड़ की जड़, पारिभद्र (परिजाता) रस के साथ पीकर शिवाम्बु पान करे तो उसके बाल काले हों, शरीर रोगमुक्त हो जाय, चमड़े की सिकुड़न दूर हो जाय तथा सिर के बाल की सफेदी नष्ट हो जाय । बिना थकावट के दस योजन जा सकता है, दूर के समाचार को सुन सकता है, दूसरे के मन की बात जान सकता है तथा हे परमेश्वरी ! वह चन्द्रमुखी रानियों के चित्त को चुरानेवाला हो जाता है ।

करवीररसं देवि ! माषमात्रं लिहेत् सदा ।
शिवाम्बुसेवको वर्षाज्जायते भ्रमवर्जितः ॥७४॥

हे देवि ! जो करवीर (कनेर) का रस एक मासाभर सदा सेवन करे और शिवाम्बु पान करे तो वह एक वर्ष में चित्तभ्रम के दोष से मुक्ति पा जाय ।

श्वेतगुञ्जापत्ररसं शरपुङ्खासमुद्भवम् ।
बीजं च चक्रमर्दस्य मातुलुंगस्य मूलकम् ॥७५॥
समभागं चूर्णयित्वा गुटिकां शिवतोयतः ।
वध्नीयाद् मटरप्रख्यां खादेत् प्रत्यहमेककाम् ॥७६॥
तदूर्ध्वं शिवतोयस्य पानकं विधिवच्चरेत् ।
एकमासेन योगीन्द्रो जायतेऽमलविग्रहः ॥७७॥

सफेद गुंजा (घुँघची) की पत्ती का रस, शरपुंखा का रस, चकवड़ के बीज तथा बिजौरा नीबू की जड़ बराबर भाग में लेकर चूर्ण करके शिवाम्बु के साथ मटर के समान गोली बाँध ले और प्रतिदिन एक-एक गोली खाये और उसके बाद विधिवत् शिवाम्बु का पान करे तो एक मास में उस योगी का सारा अंग शुद्ध हो जाय ।

करञ्जबीजचूर्णं तु वटक्षीरविमिश्रितम् ।
साहिफेनं लिहेत् प्रातः शिवतोयस्य पानकृत् ॥७८॥
षण्मासाज्जायते योगी युवा षोडशवार्षिकः ।
अदृश्यभावमाप्नोति स्वचित्तोद्भवमेव च ॥७९॥

करंज (कंजा) के बीज का चूर्ण और अफीम बरगद के दूध में मिश्रित कर प्रातःकाल चाटे और शिवाम्बु पान करे तो छः मास में योगी (साधक) सोलह वर्ष का युवा-सा हो जाय और अपने मन में उत्पन्न होने-वाले दुर्लभ मनोरथ को भी प्राप्त कर ले ।

काकजङ्घापत्ररसं भृङ्गराजरसान्वितम् ।
मधुत्रययुतं लीढ्वा वलीपलितवर्जितः ॥८०॥

काकजंघा की पत्ती का रस और भंगरैया का रस तीनों मधु (मधु,

शक्कर और घी) के साथ चाटकर शिवाम्बु पान करे तो शरीर के चमड़े की सिकुड़न तथा बाल की सफेदी दूर हो जाय ।

जीरकद्वितयं दारुमिश्रितं सीतसर्षपम् ।
मासमात्राभ्यासतः स्याज्जरापलितवर्जितः ॥८१॥

दोनों जीरा, दारुहल्दी और सफेद सरसों का चूर्ण शिवाम्बु के साथ एक मास तक सेवन करने से वृद्धत्व (बुढ़ौती) और बाल की सफेदी दूर हो जाती है ।

सौभाञ्जनद्वयं मांसी श्वेतसर्षपबीजकम् ।
घृतक्षौद्रयुतं पीत्वा भवेद्गन्धर्वरूपधृक् ॥८२॥

दोनों प्रकार के सौभांजन, जटामासी, सफेद सरसों, घी और मधु के साथ सेवन करे तथा शिवाम्बु पान करे तो योगी (साधक) गन्धर्व के समान रूपवाला हो जाय ।

कालनेमिं सभार्गिकं नवनीतविलोडितम् ।
लीढ्वा पश्चात् पिबेद्योगी शिवाम्बु रुचिरो भवेत् ॥८३॥

कालनेमि (विष) और भार्गिक (मोरंगमूल) नवनीत (मक्खन) में मिश्रित कर चाटे तथा शिवाम्बु पान करे तो योगी (साधक) सुन्दर युवा हो जाय ।

जलकेसरकं चैव द्रावणीबीजमिश्रितम् ।
शिवाम्बुलोडितं खादेद् वत्सराज्जायतेऽजरः ॥८४॥

द्रावणी बीजमिश्रित जलकेसर शिवाम्बु के साथ सेवन करे तो एक वर्ष में वृद्धत्व से रहित अर्थात् युवा हो जाय ।

नस्यं प्रातः प्रकुरुते योगी देवि ! शिवाम्बुनः ।
कफरोगा विनश्यन्ति वातरोगाः सपैत्तिकाः ।
ज्वलज्जठरवह्निः स्यादतिकायबलोऽबलः ॥८५॥

हे देवी ! जो योगी प्रातः शिवाम्बु का नस्य करता है (नाक से पीता

है) उसके कफ, वात और पित्त सम्वन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और निर्बल मनुष्य भी बलवान् हो जाता है ।

वारत्रयं वासरे तु रात्रौ योगी त्रिवारकम् ।
शिवाम्बुमर्दनं काये कुर्याद् दीर्घायुषी भवेत् ॥८६॥

यदि योगी (साधक) दिन में तीन बार और रात्रि में तीन बार शरीर में शिवाम्बु का मर्दन (मालिश) करे तो दीर्घायुवाला हो ।

दृढाङ्गसन्धिकृत्स्नाङ्गः परमानन्दसंयुतः ।
अहोरात्रं त्रिवारं तु यः कुर्यादङ्गमर्दनम् ।
शिवाम्बुना महेशानि ! स्वर्णकायरुचिः सुहृत् ॥८७॥

हे पार्वती ! जो दिन और रात्रि में तीन बार शिवाम्बु से अंगमर्दन (मालिश) करता है उसके अंगों के जोड़ तथा सभी अंग दृढ़ (मजबूत) हो जाते हैं, वह परम आनन्द प्राप्त करता है तथा उसका शरीर सोने की तरह कान्तिवाला हो जाता है ।

सकृत्पानं सकृच्चाङ्गमर्दनं यः शिवाम्बुना ।
विदधाति महेशानि ! महाविक्रमविग्रहः ॥८८॥

हे पार्वती ! जो शिवाम्बु का एक बार पान करता है और एक बार शरीर में मर्दन (मालिश) करता है वह महापराक्रमशाली होता है ।

त्रिवर्षादतिदीप्ताङ्गः कलाविज्ञानसंयुतः ।
वाक्सिद्धिः तस्य जायेत जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥८९॥

तीन वर्ष में अति तेजस्वी शरीरवाला, कला तथा विज्ञान से युक्त होता वाक्सिद्धि प्राप्त करता है और चन्द्रमा तथा ताराओं की स्थिति तक जीवित रहता है ।

अथ देवि ! प्रवक्ष्यामि षड्ऋतूनां विधानकम् ।
येन वै क्रियमाणेन न योगी बाध्यते गदैः ॥९०॥

हे देवि ! अब मैं तुमसे छः ऋतुओं का विधान कहूँगा, जिसके करने से योगी निश्चित ही रोगों से पीड़ित नहीं होता ।

वसन्तकाले देवेशि ! क्षौद्रयुक्तां हरीतकीम् ।
प्राश्य विश्वौषधं तद्वत् पश्चात्पानं शिवाम्बुनः ॥९१॥
विंशतिः श्लेष्मरोगाणां चत्वारिंशच्च पैत्तिकाः ।
अशीतिर्वातजा रोगा नश्यन्ति नात्र संशयः ॥९२॥

हे देवि ! वसन्त ऋतु में मधु के साथ हर्रे तथा सोंठ का चूर्ण सेवन करे तथा शिवाम्बु का पान करे तो कफसम्बन्धी बीस रोग, पित्तसम्बन्धी चालीस रोग और बातसम्बन्धी अस्सी रोग नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

कटुतीक्ष्णरसा वर्ज्या वसन्ते च महेश्वरि ।
सत्यं तेनाङ्गपुष्टिर्हि जायते योगिनोऽनिशम् ॥९३॥

हे पार्वती ! वसन्त ऋतु में कडवे और तीखे रस छोड़ देने चाहिए । इससे योगी के अंगों की पुष्टि निरन्तर बढ़ती जाती है, यह सत्य है ।

निदाघर्तौ महादेवि ! गुडयुक्तां हरीतकीम् ।
कणासमां च तां प्राश्य पिबेच्छिवजलं यदि ॥९४॥
पूर्ववत् सर्वरोगाणां विनाशः सूक्ष्मदर्शनम् ।
अङ्गानां लाघवं नित्यं सिद्धिभाग् जायते ध्रुवम् ॥९५॥

हे महादेवि ! ग्रीष्मऋतु में यदि गुड़ युक्त हर्रे तथा पीपर खाकर शिवाम्बु पान करे तो पहले की तरह कफ-वात-पित्त-सम्बन्धी सभी रोगों का नाश हो जाता है, सूक्ष्म रीति से देखने की शक्ति आती है, शरीर के अंगों में स्फूर्ति आ जाती है और वह निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त करता है ।

वर्षर्तौ सैन्धवेनापि प्राश्य युक्तां हरीतकीम् ।
कणामूलं महेशानि ! पिबेत् पश्चाच्छिवाम्बुकम् ॥९६॥
नीरोगकायसौवर्णसंयुतः पायसेन हि ।
लिह्यते दह्यते नैव वह्निना योगिराट् स्वयम् ॥९७॥

हे पार्वती ! वर्षा ऋतु में हर्रे और कणामूल (पीपरामूल) का चूर्ण सैन्धव (सेंधा नमक) के साथ खाकर बाद में शिवाम्बु पान करे तो योगी

(साधक) नीरोग और सोने के समान शरीरवाला हो जाता है। यदि खीर के साथ उक्त चूर्ण चाटे तो स्वयं योगिराज अग्नि से नहीं जलता है।

शरदि यः सितायुक्तां सम्प्राश्य च हरीतकीम् ।
विभीतकस्य चूर्णं तु पिवेच्छिवजलं पुनः ॥९८॥
कायशुद्धी रोगनाशो वेगेन गमनं भुवि ।
जायते परमेशानि ! योगसिद्धिरदूरतः ॥९९॥

हे परमेश्वरी ! शरद् ऋतु में जो मिश्री के साथ हर्रे और बहेड़ा का चूर्ण खाकर पुनः शिवाम्वु का पान करे तो शरीर शुद्ध हो जाय, रोग का नाश हो, भूमि पर वेग से गमन कर सके तथा योग-सिद्धि नजदीक आ जाय ।

हेमन्ततौं शुण्ठियुक्तां धात्रीफलविमिश्रिताम् ।
प्राश्यन् हरीतकीं योगी सर्वरोगविवर्जितः ॥१००॥

हेमन्त ऋतु में सोंठ और आँवला मिश्रित हर्रे का चूर्ण खाकर शिवाम्वु पान करे तो योगी (साधक) सभी रोगों से मुक्ति पा जाय ।

हानिर्धातुजदोषाणां नेत्रज्योतिर्विवर्धनम् ।
वक्तृत्वं सर्वविज्ञानं जायतेऽस्याः प्रयोगतः ॥१०१॥

इसके (उक्त चूर्ण के) प्रयोग से धातु-सम्वन्धी दोष नष्ट हो जाते हैं, आँख की ज्योति में वृद्धि होती है, वोलने की शक्ति आती है तथा सब प्रकार का विज्ञान (विशेष ज्ञान) आ जाता है ।

शिशरतौं च पिप्पल्या संयुतां च हरीतकीम् ।
प्राश्य विश्वौषधियुतां जायतेऽमलविग्रहः ॥१०२॥
शतनागसमप्राणो वलीपलितवर्जितः ।
वल्लभः सर्वसत्त्वानां सर्वज्ञः संभवेदपि ॥१०३॥

शिशिर ऋतु में पीपर और सोंठ युक्त हर्रे का चूर्ण खाकर शिवाम्वु पान करे तो शरीर मलरहित हो शुद्ध हो जाय, सौ हाथियों के समान

बलवाला हो जाय, शरीर के चमड़े की सिकुड़न तथा बाल की सफेदी दूर हो जाय तथा सब प्राणियों का प्रिय एवं सर्वज्ञ हो ।

शिवाम्बुपाने देवेशि ! वर्ज्यान्येतानि यत्नतः ।
शाकानि पत्रजातानि तथा पुष्पभवानि च ॥१०४॥
कोद्रवाश्चणकाढक्यो मसूरा माषका अपि ।
वातुलानि तथान्नानि स्त्रीसेवाधर्मसेवनम् ॥१०५॥

हे देवि ! शिवाम्बु पान में पत्ते और फूलवाले शाक, कोदव, चना, अरहर, मसूर, उड़द और वायु पैदा करनेवाले अन्न एवं स्त्रीगमन-सम्बन्धी धर्म—ये सब चीजें प्रयत्नपूर्वक छोड़ देनी चाहिए ।

विदाहितीक्ष्णकटुकक्षाराम्लानि विवर्जयेत् ।
तेन योगस्य सिद्धिः स्यादन्यथाऽनर्थसङ्गमः ॥१०६॥

उष्ण, तीक्ष्ण (तीखा), कडवा, खारा एवं खट्टा पदार्थ छोड़ देना चाहिए । इस प्रकार करने से योग की सिद्धि होती है, अन्यथा अनर्थ पैदा होता है ।

इदं शिवाम्बुकल्पाख्यतन्त्रं ते वर्णितं प्रिये ।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ॥१०७॥

॥ इति श्रीडामरतन्त्रे शिवाम्बुकल्पविधिः समाप्तः ॥

हे प्रिये ! यह शिवाम्बुकल्प नामक तन्त्र तुमसे कहा । इसे प्रयत्न से गुप्त रखना चाहिए । जिस किसीको न देना चाहिए अर्थात् न कहना चाहिए ।

॥ इति श्री डामरतन्त्र में शिवाम्बुकल्पविधि सम्पूर्ण ॥

(२) अथर्ववेद

प्रथम काण्ड के तृतीय सूक्त में मूत्र-चिकित्सा का बीज इस प्रकार है :

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्य शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे शंकर पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे
अस्तु बालिति ॥

(३) महाभारत

महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में श्रीकृष्ण और ऋषि उत्तंग का संवाद है। श्रीकृष्ण के अनुसार मूत्र ही अमृत है :

ततो दिग्वाससं धीमान् मातङ्गं मलपङ्किनम्।
अपश्यत मरौ तस्मिन् श्वयूथपरिवारितम्॥
भीषणं बद्धनिक्तिं बाणकार्मुकधारिणम्।
तस्याधःस्रोतसोऽपश्यद् वारि भूरि द्विजोत्तमः॥

तब बुद्धिमान् मुनि ने उस मरुस्थल में कुत्तों के झुण्ड से युक्त भयानक रूपवाले, हथियार बाँधे हुए, बाण और धनुष लिये हुए, नंगे, मैले-कुचैले मातंग के मूत्रेन्द्रिय से निकल रहे काफी जल को देखा।

स्मरन्नेव च त प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव।
एह्युत्तङ्ग ! प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह॥
कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाश्रितम्।
इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत् तोयं नाभ्यनन्दत॥

स्मरण करते ही मातंग ने उत्तंग से कहा कि 'उत्तंग ! आओ और मुझसे जल ग्रहण करो। तुम्हें प्यासा देखकर मेरी तुम पर बहुत बड़ी कृपा है।' किन्तु मुनि ने उस जल को ग्रहण करना पसन्द नहीं किया।

चिक्षेप च स तं धीमान् वाग्भिरुग्राभिरच्युतम्।
पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत्॥

मातंग ने उत्तंग से बार-बार पीने के लिए आग्रह किया कि इस जल को पीओ, किन्तु उत्तंग ने श्रीकृष्ण को भला-बुरा कहा।

(४) गोपथ ब्राह्मण

अथार्वाङो नमेतास्वेवाऽप्स्वान्विच्छेति।

अब पास ही है, उसे ढूंढो। वह पास ही है। इसका आशय यह है कि

रोग होने पर उसकी दवा ढूँढ़ने कहीं दूर न जाओ, अपितु वह पास ही है। यानी अमृतवत् स्वमूत्र जो सर्वगुणसम्पन्न, सर्वरोगविनाशक और कल्याणकारी रसायन है वह सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान है। वह आपके पास ही है। यही आपके रोग की दवा है। इसका सेवन कर स्वस्थ जीवन व्यतीत करें।

(५) पीयूषपाणि

धन्वन्तरि को पीयूषपाणि कहा गया है यानी जिनके हाथ में अमृत घट हो। आयुर्वेद शास्त्र में कई धन्वंतरि हुए हैं—(१) समुद्र-मंथन से १४ रत्न निकले थे। उनमें एक 'धन्वन्तरि' भी थे। (२) काशीखण्ड के राजा दिवोदास थे। वे शैव-सम्प्रदाय के थे। आयुर्वेद में उनकी विशेष रुचि थी। उन्हें भी 'धन्वन्तरि' कहा गया है। शैव और वैष्णव-संघर्षों में दिवोदास द्वारा अर्जित उपलब्धियाँ नष्ट कर दी गयीं अतः शैवों का विश्वास प्राप्त करने के लिए तत्कालीन चिन्तकों ने 'पीयूषपाणि' (यानी सूत्र-परम्परा) शब्द से अलंकृत किया। मैंने इसका अर्थ यह लगाया है कि जिसके हाथ में सदैव अमृत (शिवाम्बु) घट रहता है वह कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता।

(६) जैन धर्म

आचार्य भद्रबाहुकृत 'व्यवहार सूत्र' नामक ग्रन्थ के उद्देश्य ९ सूत्र ३५ के अनुसार दो प्रतिमाओं का वर्णन है—(१) बड़ी मोक प्रतिमा और (२) छोटी मोक प्रतिमा। छोटी मोक प्रतिमा को स्वीकार करनेवाला मुनि ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में अथवा अन्त में (शरत् काल के प्रारम्भ में भी) गाँव या नगर के बाहर राजधानी में, वन में, वन समूह में, पहाड़ पर, अनेक पहाड़ों के बीच में, गुफादि एकान्त स्थान में आहार करके यदि मूत्र धारण करे तो ६ उपवास करके पारण करे और बिना आहार किये धारण करे तो ७ उपवास करके पारण करे। इसी तरह बड़ी मोक प्रतिमा भी आहार करके धारण करे तो ७ उपवास के बाद पारण करे और यदि बिना आहार के धारण करे तो ८ उपवास करके पारण करे।

(७) बौद्ध धर्म

महावग्ग नामक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार कलंद निवाय नामक संघ में एक बौद्ध भिक्षु को काले नाग ने डँस लिया। इसकी सूचना भगवान् बुद्ध को तुरत दी गयी। उन्होंने आदेश दिया कि अपने मूत्र का, चिकनी मिट्टी का, गोबर और राख का उपयोग साथ-साथ या जो भी वहाँ मिल सके, करो। मूत्र के प्रयोग के बाद विष शान्त हो गया।

(८) हठयोग-प्रदीपिका

हठयोग-प्रदीपिका की पुरानी पुस्तक के द्वितीय उपदेश के तेरहवें श्लोक का भावार्थ: प्राणायाम के अभ्यासकाल में जो परिश्रम होता है उससे पसीना आने लगता है। वह पसीना साधारण नहीं, वरन् दिव्य होता है। उसे शरीर पर ही मल लें तो उससे शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि के साथ-साथ दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है तथा हलकापन अनुभव होने लगता है।

हठयोग-प्रदीपिका के उपदेश ३ श्लोक ९६ का भावार्थ : शिवाम्बु की पहली धारा में पित्त अधिक होता है और पिछली धारा निस्सार होती है, इसलिए दोनों धाराओं को छोड़कर शीतल मध्य धारा का प्रयोग किया जाय।

(९) ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल

ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल के पन्द्रहवें अध्याय के मैथ्यू ५ में तथा नयी बाइबिल के मैथ्यू ६ (१७) में आदेश दिया है कि अपने शरीर से निकलनेवाले जल को पी और जब तू उपवास करे तो उससे अपने शिर को मसल और चेहरे को धो।

(१०) ग्रीस के प्राचीन ग्रन्थ

ग्रीस की लगभग दो हजार वर्ष पुरानी पुस्तकों में स्वमूत्र-चिकित्सा का समर्थन है।

(११) आयुर्वेद का प्राचीन ग्रन्थ

सुश्रुत सू० अ० ४५ मूत्रवर्ग २२८ के अनुसार 'मूत्रं मानुषं च विषापहम्' मनुष्य का मूत्र विषहर है।

(१२) वृद्ध वाग्भट

ईसा सन् ५० में वृद्ध वाग्भट ने 'अष्टाङ्गहृदयम्' नामक आयुर्वेद के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ का प्रारम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया है—

रागादिरोगान् सततावसक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान, योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै॥

प्रत्येक शरीर में फैले हुए एवं हरएक समय में रहनेवाले उत्सुकता, मोह तथा अरति को देनेवाले राग, द्वेष, मोह, लोभ आदि मानसिक रोग एवं वात, पित्त, कफादि शारीरिक रोग तथा उत्पत्ति-मरणजनित जो रोग हैं उन सबको आमूल नष्ट करनेवाले अपूर्व वैद्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

मेरी दृष्टि में यह अपूर्व वैद्य स्वमूत्र ही है।

इसी प्रकार वृद्ध वाग्भट 'अष्टाङ्गसंग्रह' का सू० अ० ६, श्लो० १४७, १४८—

नेत्ररोगहरं पित्तं प्रवृद्धं च नियच्छति।
पित्तं तिक्तं कृमिहरं रोचनं कफवातजित्।
तिक्तं पामाहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहम्॥

मानव-मूत्र नेत्ररोग को नष्ट करता है, बढ़े हुए पित्त का शमन करता है, पित्तघ्न, कृमिघ्न, वातघ्न, कफघ्न, चर्मरोगघ्न, कड़वा, रोचक और विषघ्न है।

(१३) हारित

आयुर्वेद की पुस्तक 'हारित' अध्याय ६, मूत्रवर्ग के अनुसार—

मानुषं क्षारकटुकं मधुरं लघु चोच्यते।
चक्षुरोगहरं बल्यं दीपनं कफनाशनम्॥

मानव-मूत्र क्षार, कड़वा, मधुर और लघु है। यह नेत्र-रोगनाशक, बलवर्धक, जठराग्निवर्धक तथा कफघ्न है।

(१४) भावप्रकाश

भावप्रकाश (पूर्व खण्ड) मूत्रवर्ग श्लोक ६—

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद्रसायनम्।
रक्तपामाहरं तीक्ष्णं सक्षारलवणं स्मृतम्॥

मनुष्य का मूत्र विषघ्न है, सेवन करने से रसायन का काम करता है। रक्त-दोष एवं चर्म-रोगनाशक है, तीक्ष्ण, क्षारयुक्त तथा नमकीन कहा गया है।

(१५) योगरत्नाकर

योगरत्नाकर 'मूत्राष्टकम्' श्लोक ११—

'पित्तरक्तकृमिहरं रेचनं कफवातजित्।
तिक्तं मोहहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहम्॥

मानव-मूत्र पित्त-रक्त-दोषनाशक, कृमिघ्न, रेचक, कफघ्न एवं वातघ्न है, कड़वा, मूर्च्छा को दूर करनेवाला तथा विषघ्न है।

(१६) भैषज्यरत्नावली

निशां सटंगं च सजातिकोषतुथ्यं समांशं कुरु देवदाल्या।
रसेन पिष्ट्वा विषवज्रपातो, रसो भवेत् सर्वविषापहन्ता॥
माषोऽस्य संजीवयति प्रयुक्तो, नृमूत्रयोगेन च कालताष्टम्॥

हल्दी, सुहागा, जावित्री और नीला थोथा समान-समान मात्रा में लेकर कूट-पीसकर देवदाली के रस में खरल कर गोली बना लें। इसकी मात्रा १ मासा नरमूत्र के अनुपान से देनी चाहिए। इसे विष वज्रपात रस कहते हैं।

इसी प्रकार—

श्लेष्मणः कर्णगूथस्य वामानामिकया कृता।
लेपो हन्त्यहिरं घोरं नृमूत्रसेचनं तथा॥

बायें हाथ की अनामिका अँगुली से मुख में स्थित कफ का अथवा कान के मैल का लेप करें या दंशित स्थान पर नरमूत्र का सेचन करें तो घोर विष भी दूर हो जाता है।

(१७) अन्य आयुर्वेद-ग्रन्थ

राजनिघंटु, गजनिघंटु, धन्वन्तरि निघंटु आदि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में वर्णन है :

तिक्तं मोहहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहम्।

मानव-मूत्र कड़ुआ, मूर्च्छानाशक तथा विषघ्न है।

(१८) निघण्टु रत्नाकर

नरमूत्रं रेचकं स्यात्तत्क्षारं चोष्णं रसायनम्।
तिक्तं रूक्षं च प्रोक्तं च विणं चाभं कृमन्वंस्तथा॥
रक्तदोषं व्रणं चैव भूतबाधां त्वचो रुजम्।
वातं मोहं कफं पित्तं नाशयेदिति कीर्तितम्॥
नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद्रसायनम्।
रक्तपामाहरं तीक्ष्णं सक्षारलवणं स्मृतम्॥

नर-मूत्र रेचक, क्षारयुक्त, उष्ण और रसायन है। कड़ुआ, रूखा, कृमिघ्न, रक्तदोषघ्न है, घाव, भूत-बाधा, चर्म-रोग, वात, मूर्च्छा, कफ और पित्त-दोष को दूर करता है।

मनुष्य का मूत्र विषघ्न है तथा सेवन करने से रसायन का काम करता है। रक्त-दोष और चर्म-रोगनाशक है, तीखा, क्षारयुक्त तथा नमकीन होता है।

(१९) मदनपाल निघण्टु

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं सुरसायनम्।

मनुष्य का मूत्र विषघ्न है तथा सेवन करने से अच्छे रसायन का काम करता है।

(२०) पैगम्बरों की दृष्टि में

इस्लाम धर्म के पैगम्बर हजरत मुहम्मद के जमाई (स० अ० व०) अली इब्ने अबी तालीब एक रुबैत में फरमाते हैं—

दवा उक फीका वमा तश उरु, वदाउक मिनक वमा तुवसिरु।

तेरी दवा तेरे में है और तू उसे जानता नहीं है और तेरा रोग तेरे में है जिसे तू देख नहीं सकता।

(२१) प्राचीन शिलालेखों में

दाक्षिणात्य शैवागम तिरुमन्दिरम् के श्लोक ८३० का भावार्थ—

'अमरिधारणा' वीर औषधि है, यह शिवाम्बु दिव्य औषधि तथा शक्ति प्रसाद अमृत है। इस प्रकार भगवान् नंदी ने हमें प्रबुद्ध किया है। तत्त्वदर्शी इसे मूल औषधि मानते हैं, ज्योतिस्वरूप इस औषधि की महिमा अनिर्वचनीय है।

(२२) महर्षि कुम्भज और समुद्र

कहा जाता है कि महर्षि कुम्भज समुद्र पी गये थे और उनके पेशाब करने से समुद्र का पानी खारा हो गया। उसका पान करने से सभी रोग मिटते हैं और समुद्र तथा पृथ्वी का अस्तित्व बना हुआ है।

(२३) वैद्यनाथ धाम (बिहार) और महाराजा रावण

कहा जाता है कि वैद्यनाथधाम में एक प्राचीन कुंड है, जो रावण के पेशाब से बना है। उसका जलपान करने से सभी रोग मिटते हैं। हजारों दर्शनार्थी इस जल को पीने के लिए आते हैं।

(२४) शार्ङ्गधर के अनुसार

नरमूत्रे तु गोमूत्रे सप्ताहं रसकं क्षिपेत्।
दोलायन्त्रेण शुद्धिः स्यात्ततः कार्येषु योजयेत्॥

खपरिया नामक विष को दोलायन्त्र के द्वारा मानव-मूत्र और गो-मूत्र में पृथक्-पृथक् एक-एक सप्ताह तक पकायें तो खपरिया सभी कार्यों में ग्रहण योग्य शुद्ध हो जाता है।

(२५) लघुवसन्तमालती बटी

लघुवसन्तमालती वटी (औषधि) का निर्माण तब होता है, जब खप-रिया नामक विष को मनुष्य के मूत्र में शुद्ध किया जाता है। इसी प्रकार अनेक औषधियों के निर्माण में मानव-मूत्र का प्रयोग किया जाता है।

(२६) हीरा-भस्म

हीरा तब तक नहीं जलता, जब तक मानव-मूत्र से उसे एक सौ बार से ऊपर भावना न दी जाय। गलने के बाद हीरा-भस्म बनाया जाता है।

(२७) पञ्चाङ्ग में वर्णन

हृषीकेश पंचांग के पृष्ठ ६ पर सर्प-दंश की दवा का वर्णन इस प्रकार है—

गोमूत्रैर्नरमूत्रैर्वा पुराणेन घृतेन वा।
हरिद्रापानमात्रेण विषं हन्ति चराचरम्॥
दशवर्षात्परं सर्पिः पुराणमिति कथ्यते।
गोक्षीरे रजनीक्वाथं पिबेत् सर्वविषापहम्॥

गो-मूत्र, नर-मूत्र, पुराना घी तथा हल्दी के पानमात्र से सभी प्रकार का विष नष्ट होता है। दस वर्ष से अधिक समय का घी पुराना कहा जाता है। गाय के दूध में हल्दी को पकाकर पान करने से सर्प का विष दूर हो जाता है।

(२८) नेवला और सर्प-युद्ध

नेवला जब साँप से लड़ता है तो थोड़ी-थोड़ी देर पर सर्पगन्धा आदि घास पर पेशाब करके उसे खाता हुआ विष-रहित होकर सर्प को तीन टुकड़ों में काट डालता है।

(२९) साधु-सम्प्रदायों में

अघोरी सम्प्रदाय, नागा सम्प्रदाय, लामा सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, सूफी आदि सम्प्रदायों के संतों को स्वमूत्र के गुणों का विशेष ज्ञान होता है।

वे गुरु-परम्परा के अनुसार लाभ उठाते हैं और सम्पर्की रोगाकुलों को भी रोगमुक्त करते हैं।

(३०) वेदों में

ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में जल की गुणकारी महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। विभिन्न रोगों पर जल का प्रयोग करने की आज्ञा है। यह नहीं बताया गया है कि कैसे और कौन से जल के प्रयोग से रोग मिटेगा। मात्र जल के प्रयोग से रोग नहीं मिटता। यदि उस रोग पर मूत्र का प्रयोग किया जाता है तो वह रामबाण सिद्ध होता है। सम्भव है कि सांकेतिक भाषा में मूत्र की ही ओर इशारा हो।

(३१) इंग्लैण्ड की पुस्तकों में

सन् १६९५ में 'सालमन का अंग्रेज चिकित्सक' नामक पुस्तक, जो इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुई है, उसके अनुसार—

मूत्र रुधिर का जलीय अंश है। रुधिर रक्तवाहिनियों द्वारा गुर्दे में जाता है। वहाँ उसका जलीय अंश अलग होकर खमीर की प्रक्रिया से मूत्र में बदल जाता है। यह रुक्ष, उष्ण होता है। जमाओं को पिघलाता तथा सड़न-विकार को रोकता है। पीने से जिगर, तिल्ली, पित्ताशय, जलोदर, मानसिक, पाण्डुरोग, प्लेग, सभी विषैले ज्वरों में लाभ होता है। ताजे व गुनगुने मूत्र से मालिश करने से चमड़ी साफ व मुलायम होती है, जहरीले जखम ठीक होते हैं, सभी चर्म-रोग मिटते हैं, बुखार, शरीर-कम्पन, अंगशून्यता, लकवा, तिल्ली का रोग नष्ट होता है। गुर्दे, आँतें, आमाशय की पीड़ा, मुँह की सूजन, चक्कर आना, पागलपन, मिरगी, आधाशीशी, लँगड़ापन, बहरापन, अंग का सूख जाना, जुकाम, सिर-दर्द, ज्ञानतन्तु और जोड़ों के रोग, प्रदरादि रोग, बाल-रोग, गुर्दे और मूत्रमार्ग-अवरोधों के जमे हुए क्षारों को गलाकर दूर करता है। गुरदे की पथरी को तोड़कर बाहर फेंकता है।

अठारहवीं सदी में इंग्लैंड से एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम था

'एक हजार जानने योग्य बातें'। इसके अनुसार ८-९ दिनों तक मूत्रपान करने से स्कर्वी मिटता है, शरीर हलका तथा प्रफुल्लित रहता है, जलोदर, कवल, कान, आँख, चर्म-रोग, जखम, बवासीर तथा सभी पीड़ाएँ दूर होती हैं।

जीवशास्त्र के प्रसिद्ध अंग्रेज अधिवक्ता श्री जीन० रोस्टेंड, शरीर-शास्त्री श्री एलियस वारकर, टी० विल्सन, डीचमैन वी० एच० सी० एम० डी०, सिरील स्काट, श्री डब्ल्यू० एच० वक्सटर आदि विद्वानों ने आधुनिक यूरोपीय जगत् में अपने अकाट्य तर्कों तथा विवेचनाओं द्वारा जनमानस को स्वमूत्र-चिकित्सा अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया है।

श्री जे० डब्ल्यू० आर्मस्ट्रांग (इंग्लैंड) ने स्वमूत्र-चिकित्सा के पुनरुत्थान में अपने को खपा दिया। उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तक (स्वानुभवों से युक्त) 'दि वाटर आफ लाइफ' (जीवन-जल) विश्व के चिकित्सकीय क्षितिज पर स्वमूत्र-चिकित्सा को प्रतिष्ठित कराने में सहायक सिद्ध हुई है। फलस्वरूप सारे जगत् में इसे एलोपैथी चिकित्सा के विकल्प के रूप में आदर प्रदान किया जाने लगा है।

(३२) फ्रांस में मूत्र-प्रयोग

अठारहवीं सदी के लगभग फ्रान्स में स्वमूत्र-चिकित्सा का प्रयोग कुछेक रोगों पर होता था। प्रायः वहाँ के दंत-चिकित्सक मूत्र से दाँत धोकर चिकित्सा करते थे, ऐसा वर्णन मिलता है।

(३३) कबीर की वाणी में

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
बग बिचारा क्या करे, रहा किनारे बैठ॥

अमरी अमर लोक से आई। तीन लोक में निर्भय भाई॥
तन सोदे, मन राखे धीर। अमरी उतारे, खारो नोर॥
कहें कबीर अमर भई काया। जिन भेद अमरी का पाया॥

अमरी, अमरी, अमरी कंद। अमरी काटे जम का फंद॥
उलटी आवे, उलटी जावे। उलट-पुलट के कालै खावे॥
काची अमरी नासै रोग। पाकी अमरी, साधै योग॥
कहें कबीर अमर भइ काया। जिन भेद अमरी का पाया॥

(३४) देवालयों में

देवालयों के नाबदान के पानी को पीने की परम्परा है।

(३५) योगी का अनुभव

वंगाल के प्रसिद्ध योगी रामनाथ के अनुसार स्वमूत्र-चिकित्सा से उन्होंने न सिर्फ दमा-रोग मिटाया है, बल्कि स्वमूत्र-चिकित्सा के सम्बन्ध में कहा है कि '७० रोग ७२ वाई, कहें धन्वन्तरि क्षण में जाई।'

(३६) मूत्र से पशुओं को लाभ

पंजाब के किसान मवेशियों को ब्याते समय उसके मुतउर (बच्चा पैदा होनें के पूर्व यह बाहर होता है) को चीरकर उस जल को बाल्टी में लेकर गाय या भैंस को पिला देते हैं। उसके तुरत बाद उसे आसानी से बच्चा पैदा हो जाता है और खेड़ी भी गिर जाती है। उनके अनुसार मवेशी सभी प्रकार के रोग से मुक्त रहते हैं।

(३७) पशु-रोगों में मूत्र-प्रयोग

हरियाणा के विभिन्न क्षेत्रों में कहावत है कि मूत्र पिलाने से मवेशी न सिर्फ रोग-रहित होते हैं, बल्कि ब्यायी हुई मवेशियों का दूध भी बढ़ जाता है।

(३८) सूफी-सम्प्रदाय में

सूफी-सम्प्रदाय में भी रोग-निवारण तथा स्वास्थ्य-रक्षा के लिए स्वमूत्र-प्रयोग की गुरु-परम्परा है।

(३९) योग की पुस्तकों में

श्री बाबूराव ईमणाज की मराठी पुस्तक 'योग तत्त्वामृत' के पृष्ठ २५६-२५७ में स्वमूत्र के गुणों की चर्चा है।

स्वमूत्र अस्पृश्य क्यों ? :७:

वैज्ञानिकों के अनुसार इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो अपवित्र और अस्पृश्य हो। सभी वस्तुएँ पंचभूतात्मक हैं। शरीर की सभी वस्तुओं पर उन्हीं पंचभूतों का प्रभाव है। उन्हींकी कमी-वेशी से शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और क्षय होता रहता है। शास्त्रों के अनुसार अशुद्ध का जब संस्कार होता है तो वह शुद्ध बन जाता है, जैसे पाखाना का खाद जब गन्ना तथा फल, फूल और पौधों में दिया जाता है तो उससे स्वादिष्ट फल, गन्ना तथा अनाज पैदा होता है और उसके रस स्वादिष्ट होते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपवित्र के बिना पवित्र की उत्पत्ति असम्भव है। संखिया, पारा आदि संहारक वस्तुएँ हैं, पर इनके संशोधन से जीवनदायिनी, शक्तिशाली पवित्र दवा बन जाती है। प्राचीन और आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार अपावन-से-अपावन वस्तुओं से उच्च कोटि की प्राणदायिनी दवाओं का निर्माण होता है और जानते हुए भी उनके प्रयोग से इनकार नहीं किया जाता। चीन, जापान, अमेरिका आदि देशों में घातक रोगों से रक्षा के लिए मानव-मूत्र से 'यूरोकोनस' नामक दवाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया है। उस पर विभिन्न प्रकार के शोध भी चल रहे हैं। किन्तु स्वमूत्र-प्रयोग की चर्चा ज्यों ही की जाती है त्यों ही लोग मुँह विचकाने लगते हैं। वे यह भी कहते हैं कि मूत्र से सभी रोग मिटते हैं यह सच है, पर यह न कहा जाय कि यह मूत्र है तो उसके पान से कोई नफरत नहीं है। यह कैसी विडम्बना है कि अपने मूत्र से तो घृणा की जाय, मगर दूसरे के मूत्र से बनी दवाओं को, उस पर दूसरा लेबुल लगा दिया जाय तो पीने में कोई हिचक नहीं। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य सत्य को उजागर करना है। जिस प्रकार धारोष्ण दूध में अमृतवत् गुण होता है उसी प्रकार तुरत के उत्सर्जित मूत्र में भी अमृतवत् गुण के साथ ही सभी रोगों को मिटाने की अमोघ शक्ति

होती है। ऐसी स्थिति में इस कल्याणकारी महौषधि से घृणा करना सबसे बड़ी मूर्खता है। मूत्र को अस्पृश्य कहकर विरोध करना शास्त्रसंगत नहीं है।

हजारों वर्षों से 'स्वमूत्र' के कल्याणकारी गुणों को भुला दिया गया है। अतः मूत्र के गुणों के प्रति जब जनमानस बिलकुल शून्य हो, और उस शून्य मानस-पटल पर स्वमूत्र को अपावन कहकर उसे धर्म का जामा पहनाकर अस्पृश्य की संज्ञा से जोड़ दिया गया हो तो अवश्य ही मूत्र के प्रति घृणा उत्पन्न होगी। आज की यह स्थिति सर्वदेशीय है।

हमारा परम कर्तव्य है कि हम जनमानस में अनुभव के ठोस प्रमाणों से यह भर दें कि जिस वस्तु को अपावन समझकर वह उससे घृणा करता है वही उसकी जीवनदायिनी शक्ति है। वही संजीवनी दवा है, शरीर को पुष्ट, स्वस्थ तथा दीर्घायु बनाने के गुणों से वह ओत-प्रोत है। वह है मात्र स्वमूत्र। अतः मानव-मूत्र के प्रति नया वातावरण बनाने के लिए माताओं और बहनों को अन्यों के स्वानुभव से लाभ उठाना चाहिए और अपने बच्चों के प्रत्येक रोग पर उसीके मूत्र का प्रयोग कराकर मूत्र के चमत्कारिक गुणों से लाभ उठाना चाहिए। जिस घर में स्वमूत्र-चिकित्सा पारिवारिक चिकित्सा के रूप में प्रवेश कर गयी है उस घर में चिकित्सकीय खर्च बन्द हो गया है, समय का दुरुपयोग बन्द हो गया है और घर के बालक-बालिका, प्रौढ़-प्रौढ़ा, वृद्ध-वृद्धा सभी रोगमुक्त होकर दीर्घायु को प्राप्त हो रहे हैं।

●

स्वमूत्र-चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ : ८ :

प्राच्य परम्परा (१) प्राचीन पुस्तकों तथा गुरु-परम्पराओं के अनुसार स्वमूत्र-पान के लिए आदेश दिया गया है कि

मूत्र की पहली धार और अंतिम धार छोड़कर मध्य की शीतल धार

का प्रयोग तुरन्त करना चाहिए। देर करने से उसके आवश्यक तत्त्व उड़ जाते हैं।

(२) उषःपान—रात्रि के सोने के बाद प्रातःकाल जो मूत्र सबसे पहले उत्सर्ग किया जाता है उसे महामृत कहा जाता है। वह सर्वगुणसम्पन्न होता है।

(३) भोजनोपरांत उत्सर्जित मूत्र को अति गुणकारी औषधि बताया गया है।

(४) अन्य समय के मूत्र को अमृत कहा गया है।

रोगाकुलों को रोग-मुक्त करने के लिए भारतवर्ष के संत, साधु, तांत्रिक तथा वैद्यों ने जिस भी किसी तरह जिस भी किसी रोग को दूर करने के लिए मानव-मूत्र का प्रयोग किया है उसमें पूर्ण सिद्धि मिली है।

अन्य परम्परा (१) कुछेक योगी तथा तांत्रिक मूत्र को गरम कर तथा वासी मूत्र का भी प्रयोग कराते हैं।

(२) मध्य प्रदेश के एक स्वमूत्र-चिकित्सक का कहना है कि उत्सर्जित मूत्र की मध्य धार को एक गिलास में रख देना चाहिए, ताकि उसकी पेंदी में मूत्र का अनावश्यक तत्त्व बैठ जाय, तब सेवन करना चाहिए।

(३) वाराणसी के एक तांत्रिक तथा महाराष्ट्र के एक साधु के अनुसार सर्वप्रथम मूत्र को निर्मल करना चाहिए और तब उसका प्रयोग करना चाहिए। वे रोगियों को एक सप्ताह तक फल और दूध पर रखते हैं। उसके बाद भी फल और दूध का सेवन कराकर उस मूत्र का प्रयोग रोगी पर कराकर उसे रोग-मुक्त कराते हैं।

पाश्चात्य परम्परा—पाश्चात्य परम्परा में मूत्र के किसी अंश का निषेध नहीं बताया गया है, अतः वे एक-एक बूंद को सेवन करने का आदेश देते हैं।

अघोर-परम्परा—अघोर-परम्परा में भी स्वमूत्र का एक-एक बूँद पीने का विधान है।

उक्त प्रचलित परम्पराओं से ज्ञात होता है कि स्वमूत्र किसी भी दृष्टि से हानिकारक द्रव्य नहीं है। अतएव स्वमूत्र का प्रयोग जहाँ भी, जैसे भी किया गया है, कल्याणकारी ही सिद्ध हुआ है। अतः इसके सेवन के लिए आदिकाल से प्रचलित सर्वमान्य परम्परा 'शीतल मध्य धारा' का ही प्रयोग करने की अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा बनानी चाहिए।

शिवाम्बु-कल्प से टूटी हुई और भ्रष्ट हड्डी जोड़ने, कटे हुए अंग को जोड़ने तथा आन्तरिक परेशानियों को तत्काल दूर करने की प्राचीन कलाओं की खोज होनी चाहिए। ●

मूत्र द्वारा साध्य-असाध्य रोगों की पहचान : ९ :

प्रातःकाल के प्रथम मूत्र की मध्य धार को किसी काँच के बर्तन में लेकर रख दिया जाय। उसमें नीम की सींक या दूब की सींक से एक बूंद कड़ुआ तेल डालकर निम्नलिखित जानकारी प्राप्त करें :

१. शीशी में रखे मूत्र में यदि वह तेल फैल जाय तो रोग साध्य

२. न फैले तो कष्टसाध्य

३. नीचे बैठ जाय तो असाध्य

४. पश्चिम तरफ मुख करके मूत्र देखें। यदि डाले हुए तेल का बिन्दु पूर्व तरफ जाय तो रोगी जल्द अच्छा होगा। यदि दक्षिण तरफ जाय तो शरीर में तकलीफ होगी। उत्तर तरफ जाय तो रोग नहीं जायगा। सर्प की आकृति का सफेद हो जाय तो वायु-विकार होगा। छत्र की तरह रक्त-वर्ण हो जाय तो पित्त-विकार, मोती की तरह क्षीण बालू की तरह लगे तो कफ-विकार जानें। ●

स्वमूत्र बाल-रोग की अचूक दवा : १० :

बाल-रोग—स्वमूत्र बाल-रोग की अचूक दवा है, अतः बालक के समस्त रोगों पर बेहिचक स्वमूत्र-चिकित्सा कर तुरंत लाभ उठाना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि बच्चों में किसी प्रकार की परेशानी महसूस होते ही अभिभावक स्थानीय किसी चिकित्सक (एलोपैथ) की शरण में बालक को लेकर पहुँच जाते हैं या उन्हें अपने घर बुला लेते हैं। चिकित्सक बालक के देह पर (रोग पर नहीं) मनमाने ढंग की बेशुमार सुइयाँ गोदकर उसके शरीर को चलनी कर देते हैं और खाने के लिए भी कैपसूल तथा टिकिया देकर रोग दबाने का प्रयास करते हैं। कुछ ही समय के बाद उनकी सूई तथा दवाइयाँ बालक पर प्रतिक्रियास्वरूप अन्य रोग पैदा करती हैं तथा पुनः पुराना रोग उभाड़ती रहती हैं। अतः इनके चिकित्सालयों में एक बार जाकर दवा लेने का मतलब यह होता है कि आजीवन उसे किसी न किसी रोग की दवा करते रहना पड़ता है और उसका मूल रोग ज्यों का त्यों किसी न किसी रूप में बना रहता है। अंत में हालत गम्भीर होने पर जब अच्छे चिकित्सक के यहाँ या चिकित्सालय में पहुँचते हैं तो रोगी की स्थिति गंभीर बतायी जाती है। वहाँ अंधाधुंध रुपया खर्च करने के बाद भी उस रोगी को बचा पाना मुश्किल होता है। इस गंभीर स्थिति का शिकार होने के बावजूद भी मार्गदर्शन के अभाव में अभिभावक बार-बार रोगियों को लेकर उन्हींके पास जाने के लिए बाध्य हैं। यह अभिभावक का कोई दोष नहीं है। स्वमूत्र-चिकित्सा के सम्बन्ध में न तो उसे कोई जानकारी है, न उसे करने के लिए चिकित्सकों ने आदेश ही दिया है और न धार्मिक पुस्तकों में इलाज करने का कहीं उल्लेख ही है। बल्कि धार्मिक विचारक मूत्र और स्वमूत्र-चिकित्सा के विरुद्ध कुछ अनाप-शनाप बोलकर उसके प्रति उत्पन्न जनसाधारण की अच्छी भावना को दबा देता है। उनकी हिम्मत को पस्त कर देता

है। तथापि हिम्मत कर जो लोग स्वमूत्र-चिकित्सा को अपनाते हैं उन्हें सद्यःलाभ होता है। जिन बाल-रोगों पर स्वमूत्र-चिकित्सा का प्रयोग किया गया है उनकी सूची निम्नलिखित है :

हाईपोक्लेसमिक टिटेली, टिटनेस, केचुआ, कवल, सूखा रोग, पौष्टिक आहार की कमी के अनेक रोग, दाँत निकलना, काली खाँसी, मियादी बुखार, निमोनिया, हफरा, पेशाब के रास्ते में सूजन, चूना रोग, रोवनी, रोहणी (डिपथीरिया), पेचिश, आँव, वातज्वर, स्कर्वी, पोलियो, दूध का न पचना, अंग-भंग का होना, रीढ़ की हड्डी पर फोड़ा (मेनेंगोशील), चेचक, नेत्र-रोग, कान-रोग, खुथुवा, आँख आना, आँख का निनावा, फूली, माँड़ा, लीवर-वृद्धि, आँत उतरना, कान का बहना, कान का दर्द, दाद, दमा, खुजली, मचली, कै होना, सिर में फोड़े निकलना आदि।

चिकित्सा—बच्चे को सुबह-दोपहर-शाम को उसीका ताजा मूत्र उम्र के अनुसार पिलाना। मात्रा—एक मास तक के बच्चे को एक चम्मच, दो से पाँच मास के बच्चे को दो चम्मच, छः मास से एक वर्ष तक तीन चम्मच, एक वर्ष से पाँच वर्ष तक पाँच चम्मच तक। उसके ऊपर इसी प्रकार बढ़ाना चाहिए। ●

स्वमूत्र स्त्री-रोग की अचूक दवा : ११ :

स्त्री-रोग—मूत्र स्त्रियों के समस्त रोगों की अचूक औषधि है। अतः उनके मानस-पटल पर मूत्र के विरुद्ध व्याप्त घृणात्मक भावनाओं को निकालने से मानवमात्र का कल्याण संभव है। जिन बहनों ने हिम्मत और श्रद्धा के साथ अपने विभिन्न रोगों पर स्वमूत्र-चिकित्सा का प्रयोग किया है उन रोगों की सूची निम्नलिखित है :

१. पेट-दर्द, २. गर्भपात, ३. पेट का फोड़ा, ४. मासिक रुकना,

५. मासिक का दर्द, ६. विशेष खून जाना, ७. मासिक का कई बार होना, ८. उल्टी (हाइपरमेसेस), ९. बच्चेदानी का बाहर निकलना, १०. बच्चेदानी का कैंसर, ११. श्वेत प्रदर, १२. रक्त प्रदर, १३. स्तन कैंसर, १४. योनि कैंसर, १५. बच्चेदानी में सूकसल्फेजाइटिस, १६. गनोरिया (सुजाक), १७. सिफलिस (गर्मी), १८. बाँझपन, १९. खून का कैंसर, २०. अंडाशय में सूजन, २१. अंडाशय में मांसवृद्धि, २२. कमर-दर्द, २३. गर्भधारण, २४. खून का अभाव, २५. गर्भ का न रुकना, २६. पेशाव के रास्ते में खुजली, २७. पीला प्रदर, २८. टी० बी०, २९. उदर-रोग, ३०. वात-रोग, ३१. प्रसूत, ३२. टिटनेस, ३३. नेत्र-रोग, ३४. सिर में दर्द, ३५. आधाशीशी, ३६. शरीर का सूखना, ३७. शरीर में जुलपित्ती उठना, ३८. शरीर में फफोला होना और फूटना, ३९. अन्य प्रकार के रोग।

परिशिष्ट

आधार के लिए सहायक ग्रन्थ-सूची

१. ऋग्वेद
२. यजुर्वेद
३. अथर्ववेद
४. शिवाम्बु-कल्प
५. गोपथ ब्राह्मण
६. महाभारत
७. चरक
८. सुश्रुत
९. जैन धर्म
१०. बौद्ध धर्म
११. वृद्ध वाग्भट
१२. बाइबिल
१३. यूनानी चिकित्सा
१४. प्राकृतिक उपचार
१५. धन्वन्तरि संहिता
१६. हठयोग-प्रदीपिका
१७. कुण्डलिनी महाशक्ति
१८. प्राणायाम-विज्ञान
१९. सौर्य-चिकित्सा
२०. हारीत संहिता
२१. योग-रत्नाकर
२२. इन्द्रयामल तन्त्र
२३. शिवपुराण
२४. वैद्य जीवन
२५. अष्टाङ्गहृदय
२६. भावप्रकाश
२७. भैषज्यरत्नावली
२८. राजनिघण्टु
२९. गजनिघण्टु
३०. धन्वन्तरिनिघण्टु
३१. निघण्टु-रत्नाकर
३२. मदनपाल निघण्टु
३३. अली इब्ने अली तालीव
३४. तिरुमन्दिरम्
३५. शार्ङ्गधर
३६. हृषीकेश पञ्चाङ्ग
३७. दी वाटर ऑफ लाइफ
३८. मानव-मूत्र
३९. ब्रिटिश फार्माकोपिया
४०. सेल्समैन इंग्लिश डॉक्टर
४१. वन थाउजण्ड रेमिडी
४२. डॉक्टर, डिजीज एण्ड हेल्थ

४३. शिवाम्बु-चिकित्सा-पद्धति
४४. डामरतन्त्र
४५. अघोर-चिकित्सा
४६. धन्वन्तरि
४७. प्रेस रिपोर्ट सेनफ्रान्सिस्को (यू० एस० ए०) २४ अक्तूबर, १९६७
४८. साइन्स डाइजेस्ट जुलाई, १९५८
४९. अमेरिकन रिव्यू ऑफ रिसपिरेटरी डिजीज, जून, १९६५
५०. एक्टा ट्यूवर कोल स्कैण्डिनेविया इफेक्ट ऑफ ह्यूमन यूरिन ऑन टी० बी० वेसील्यूस, १९५१, १९५२
५१. काई, केस्टो, काइमो (जापान) ऑन एण्टी टी० बी० फैक्टर्स इन ह्यूमन यूरिन १९५६, १९५७
५२. अमेरिकन रिव्यू ऑफ ट्यूवर क्युलोसिस १९५४–६९ और ४०६। १९५६–७३ और ९६७
५३. आटो यूरिन क्योर शिव एण्ड शिवाम्बु
५४. आटो यूरिन थेरेपी
५५. तिब्बत के महान् योगी मिलारप्पा की वाणी
५६. डिफेन्स आटो यूरिन थेरेपी
५७. डॉ० के० सी० कुरविल्ला
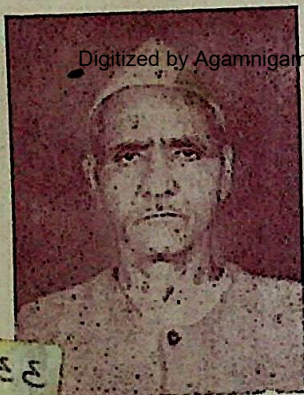
श्री चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र 'शास्त्री'

जन्म : ५ अप्रेल १९१६

शिक्षा : १९३१ से १९३६ तक कलकत्ता तथा आसपास के क्षेत्रों में क्रान्तिकारियों से सम्पर्क रखने तथा छात्र, मजदूर, किसान आन्दोलनों में भाग लेने के कारण कलकत्ता से निष्कासित मिश्रजी काशी विद्यापीठ से १९४९ में शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण।

रुचि : राजनीति–सामाजिक कार्य स्वाधीनता संग्राम के दौरान जेल यातनाओं से हृदय रोग साइटिका आदि से आक्रान्त होने पर स्वमूत्र चिकित्सा की ओर रूझान।

प्रयोग : १९६७ एवं १९७८ में हृदय रोग एवं मस्तिष्क ज्वर से पीड़ित मिश्रजी स्वमूत्र चिकित्सा से रोगमुक्त।